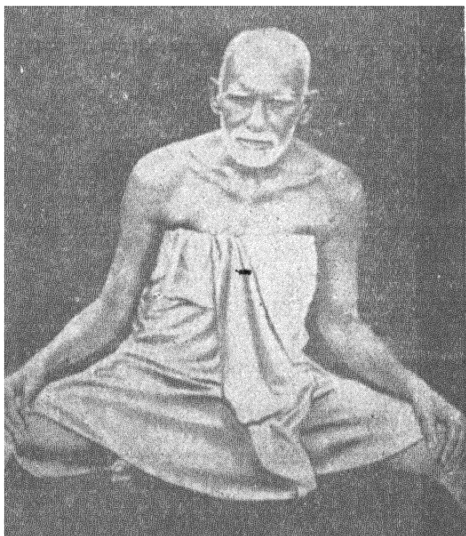
विश्वेश्वरानन्द-संस्थान-प्रकाशन—१६२

सर्वदानन्द-विश्व-ग्रन्थमाला

SARVADANAND UNIVERSAL SERIES

स्वर्गत (The Late)



श्रीमान् स्वामी सर्वदानन्द

Shri Swami Sarvadanand

सं० १९१६-९९ (1859-1942)

ग्रन्थ—२८

Volume—28

ग्रन्थमाला-स्मारक-समर्पण-संकल्पः

★ पञ्चापे लब्धजन्माऽऽसीद् होश्यारपुर-पार्श्वतः ।
महात्मा *सर्वदानन्दस्* सिद्ध-तपा यतीश्वरः ॥ १ ॥

★ वेद-वेदाङ्ग-सच्छूद्धो वेदान्त-शान्त-मानसः ।
सत्यधर्म-प्रचारात्म-लोकसेवा-दृढव्रतः ॥ २ ॥

★ सत्प्रेरणाभिराशीभिर् यः खलु मुनि-सत्तमः ।
अस्माकं सर्वदा मान्यः *संस्थानस्याऽस्य* पोषकः ॥ ३ ॥

★ तस्याऽस्तु सुचिर-स्मृत्यै पूजायै च मनस्विनः ।
सद्ग्रन्थ-विश्व-मालेयं श्रद्धया परयाऽर्पिता ।
इति निवेदयेते *तत्-सम्पादक-प्रकाशकौ* ॥ ४ ॥

सम्पादक :—

विश्वबन्धु *शास्त्री, ऍम. ए., ऍम. ओ. ऍल.*

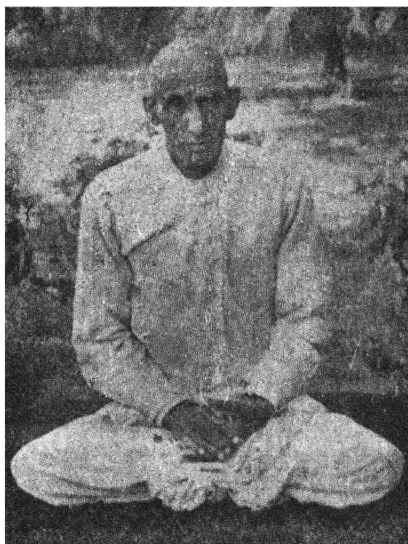
प्रकाशक :—

विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-संस्थान
होश्यारपुर

स. वि. ग्रन्थमाला—२८  S. U. Series—28

आत्मानुभूति

(नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् के आधार पर)



स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती बी. ए., बी. टी.
होशयारपुर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान
१९५९

प्रथम संस्करण

२०१६ (1959)

मूल्य २) रु.



Printed at
The V. V. R. Institute Press
and Published for
The V. V. Research Institute
By
DEV DATTA Shastri V. B.,
at Hoshiarpur (India)

प्रकाशक तथा मुद्रक
देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर
विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान
प्रेस, साधुआश्रम, होश्यारपुर
(भारत)

सम्पादकीय

स्वर्गत महात्मा स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज की पुण्यस्मारक-स्वरूप इस ग्रन्थमाला में इससे पूर्व २७ ग्रन्थ—एक पंजाबी में, इक्कीस हिन्दी में तथा पांच अंग्रेजी में, प्रकाशित हो चुके हैं।

आज से नौ वर्ष पूर्व जब प्रस्तुत ग्रन्थ के ही लेखक द्वारा लिखित 'ब्रह्मविद्या' नाम के ग्रन्थ के साथ इस माला का श्रीगणेश हुआ था, तब उक्त ग्रन्थ के मेरे लिखे 'सम्पादकीय' में ये शब्द आए थे—

स्वर्गीय *योगिराज* स्वामी *सियाराम* जी ऍम्. ए. आध्यात्मिक मार्ग के सिद्धयात्री हुए हैं। हमें उनके सत्सङ्ग का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इस बारे में हम उनके आजीवन ऋणी रहेंगे। उनकी ही आध्यात्मिक संपदा के प्रमुख दायाद व प्रवर्धक, हमारे सुहृद्, श्री स्वामी कृष्णानन्द जी इस ग्रन्थ के लेखक हैं। आप कोई तीस वर्ष पहले दयानन्द हाई स्कूल, *चकवाल* (जेहलम) के मुख्याध्यापक बने थे। परन्तु, शीघ्र ही, आपने आध्यात्मिक लटक की तीव्रतावश उस पद को छोड़ दिया। तभी से आप ज्ञान, ध्यान व साधन में ही निरन्तर लगे हुए हैं। अतः यह अतीव उचित घटना घटी है कि इस संत-स्मारक 'माला' का आरम्भ आपके चिर-प्रतिष्ठित अभ्यास व परिपक्व अनुभव के फलस्वरूप इस ग्रन्थ से होता है।

छात्रावस्था से चले आ रहे आपस के सुहृद्-भाव के आधार पर लगातार की जाती रही मेरी प्रेरणा का मान बढ़ाते हुए, १९५३ में स्वा. कृष्णानन्द जी ने स्थिर रूप से यहां संस्थान में पधार कर अपना आसन लगा लिया था। उनके नितांत नियमबद्ध दैनिक कार्यक्रम का क्षण-क्षण आध्यात्मिक साधन, प्रवचन तथा लेख में लगता रहा। १९५४ के ग्रीष्म में आप दो-तीन मास के लिए पौड़ी (गढ़वाल) गए जहां से शरदृतु लगते ही आपका इधर लौट आने का संकल्प था। परन्तु

होनी मानवता के भोलापन पर मानो, हँस रही थी ! जुलाई मास के आरम्भ में आप एक भयानक रोग की लपेट में आकर हरिद्वार चले आए और वहीं पर उसी मास के २३वें दिन ६२ वर्ष की अवस्था में स्वर्गत हुए।

आपका जन्म पश्चिमी पंजाब में रावलपिंडी के समीप चकवाल नगर में हुआ था। वहां से अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् आप १६११ में दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर में भरती हुए थे जहां उन्होंने अपना नाम 'कल्याणदास' के स्थान पर 'कल्याणदेव' रख लिया था। आपने गणित विद्या में एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त की, किन्तु रोगवश उस परीक्षा में बैठ नहीं पाए। आप उधर से हट कर बी. टी. परीक्षा उत्तीर्ण करके दयानन्द हाई स्कूल, चकवाल के मुख्याध्यापक नियुक्त हो गए।

आपने यह सेवा-कार्य बड़ी लगन और योग्यता के साथ संभाल लिया। क्या प्रबन्धक क्या अध्यापक और क्या छात्र—सभी के हृदयों में आपके प्रति मान और प्रेम का सद्भाव विशेष रूप से पैदा हो गया।

इस कार्य के साथ ही साथ, आप आत्म-साधना में भी लगे रहे। महात्मा सियाराम जी के सत्संग द्वारा आपके हृदय में जो इस ओर अभिरुचि अंकुरित हुई थी, वह अब धीरे-धीरे लगातार अभ्यास द्वारा खूब पनपने लगी। अन्ततः, यह लगन अति तीव्र हो गई। अतः आपने स्कूल का कार्य छोड़ देने का निश्चय करके १६२७ के अन्त में वहीं पर स्वामी सियाराम जी के विशिष्ट शिष्य स्वामी विशुद्धानन्द जी से संन्यास की दीक्षा ले ली। इसके पश्चात्, १६२८ मई, में आपने देहरादून पहुँच कर अपने जीवन की बाग-डोर सर्वथा स्वामी सियाराम जी महाराज के हाथ सौंप दी और उन्हीं की सेवा में रहने लग गए। वहीं पर आपने १८ दिन का अनशन किया तथा अनेक अन्य साधनों को सम्पन्न किया। १६२६ में महाराज जी जब कैलाश-यात्रा पर गए, तो आप उनके साथ में ही थे। उसी यात्रा के मध्य में ४ जुलाई को महाराज जी स्वर्गत हुए।

स्वामी कृष्णानन्द जी अपने अन्तिम तीन-चार वर्षों में दार्शनिक

एवं योग-सम्बंधी मार्मिक अनुसन्धान में लगे रहे। उनका विचार था कि इस सामग्री को अन्तिम रूप देकर 'ब्रह्मविद्या' ग्रन्थ के द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित कराएँगे। परन्तु खेद है कि **"मध्या कर्तोर्न्यधाच्छुक्म धीरः"** (ऋक् २,३८,४) इस वचन के अनुसार वे धीर, मनस्वी, महात्मा विवश हो अपने उस कार्य को बीच में ही छोड़ चल दिए!

इस सामग्री को ब्रह्मचारी रामरक्खा जी, स्वामी सच्चिदानन्द जी तथा श्री देवदत्त शास्त्री जी ने देख कर व्यवस्थित करने का भरसक यत्न किया है फिर भी, इसे एक ही ग्रन्थ का रूप देने में सफलता नहीं हुई। इस कारण, इसके जितने भिन्न-भिन्न भाग स्पष्ट हो पाए हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय करना पड़ा है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं में से पहला है। आशा है उक्त प्रकार की परिस्थिति में किया गया यह यत्न पाठकों के लिए बहुत-कुछ लाभदायक सिद्ध होगा। इसके अन्तिम प्रूफ भी ब्र. रामरक्खा जी ने देखे हैं।

स्वामी कृष्णानन्द जी ने मृत्यु से कुछ मास पूर्व अपनी वसीयत लिखी थी। उस पर फूल चढ़ाते हुए उसके तीनों अधिकारिओं, अर्थात् श्री स्वामी जी के भ्राता, बाबू हरिचन्द जी, ब्र. रामरक्खा जी तथा इन पंक्तियों के लेखक ने एक निश्चय किया जिस के अधीन श्री स्वामी जी की सब संपत्ति, अर्थात् उनकी संगृहीत पुस्तकें, उनकी अपनी प्रकाशित पुस्तकें तथा नकद राशि, संस्थान को दे दी गई है और यह आदेश किया गया है कि नकद राशि श्री स्वामी जी की पुस्तकों के प्रकाशन पर लगाई जावे। इस ग्रन्थ की लागत उस निधि से ही पूरी की गई है।

साधु आश्रम, होश्यारपुर }
१६ ज्येष्ठ, २०१६ वि. }

विश्वबन्धु

विषय-सूची

भूमिका

भूमिका

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

ओ३म् नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो,
नमो गुरुभ्यः ॥ २ ॥

वह (परब्रह्म) सम्पूर्ण (आकाशवत् व्यापी, निरन्तर तथा निरुपाधिक) है; और यह (अर्थात् सोपाधिक, नामरूपात्मक जगत् में स्थित तथा व्यवहारयुक्त) अपर ब्रह्म भी (अपने परम शुद्ध स्वरूप से) पूर्ण (व्यापी) है; उस पूर्ण (कारणात्मक परब्रह्म) से यह कार्यात्मक अपरब्रह्म निकलता है; परन्तु यह पूर्ण ही निकलता है; अर्थात् अपने (पूर्ण) स्वरूप का त्याग नहीं करता। इस (कार्यरूप) पूर्ण (ब्रह्म) की पूर्णता को ग्रहण करने से (अविद्याकृतभूतमात्रोपाधि के संसर्ग से उत्पन्न, अन्यथा प्रतीति मात्र स्वरूप को विद्या द्वारा तिरस्कार करने से तथा शुद्ध, एकरस आत्मस्वरूप का आकलन करने से) पूर्ण ब्रह्म (अन्तर बाह्य भेद से रहित, चिद्घन, एकरस स्वभाव तथा केवल अद्वितीय) शेष रहता है ॥ १ ॥

वह पर अपर रूप एकरस पूर्ण ब्रह्म ही आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विघ्नों को दूर कर, सब प्रकार शान्ति अथवा पूर्णता को प्रदान करे। ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के कर्त्ता ब्रह्मादि ऋषि-परम्परा को तथा गुरुजनों को नमस्कार हो ॥ २ ॥

बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ५ तथा २, ४ का

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-सम्वाद

उपर्युक्त दो स्थलों के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-सम्वाद में ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी अधिकारी, विषय, अन्तरंग साधन आदि सम्पूर्ण अर्थों का साररूप से अत्यन्त मार्मिक तथा सुन्दर वर्णन है। इस आख्यायिका द्वारा इन अत्यन्त उपयोगी अर्थों का प्रारम्भ में संक्षेप से वर्णन करना विस्तृत विवेचन में सहकारी होगा।

संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के समय याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी भार्या मैत्रेयी को बुलाकर कहा कि मैं अब इस गृहस्थाश्रम से ऊर्ध्व अर्थात् पारिव्राज्य (संन्यास) आश्रम में प्रवेश करना चाहता हूँ। इस शुभ कार्य में तुम्हारी अनुमति मांगता हूँ और तुम्हारे तथा दूसरी भार्या कात्यायनी में अपने धन को बांट देना चाहता हूँ। ताकि मेरे चले जाने के पश्चात् तुम्हारा किसी प्रकार का कलह-क्लेश न हो। ४, ५, २

मैत्रेयी ने पूछा ! हे भगवन् ! यदि सागरसहित धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी मेरी हो जाए तो मैं क्या इस अपार धन-राशि तथा धन-साध्य अग्निहोत्र आदि कर्मों से अमृत पद को प्राप्त कर लूँगी। मैत्रेयी के ऐसा प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया। अरे मैत्रेयी ! यह कैसे सम्भव हो सकता है ? जैसे धनवानों का लोक में खान-पान, वस्त्र, प्रासाद सम्बन्धी, नौकर-चाकर, यश आदि से सम्पन्न सुखमय जीवन होता है; वैसा ही आपका भी सुखमय जीवन होगा। धन तथा धनसाध्य-कर्म द्वारा अमृत पद की प्राप्ति की आशा नितान्त निर्मूल तथा अविद्याजन्य है ॥ ३ ॥

मैत्रेयी ने पुनः कहा—जो धन मुझे अमृतपद नहीं प्रदान कर सकता उस धन को लेकर मैं क्या करूँगी? भगवन्! अमृतत्व के जिस असंदिग्ध साधन को आप जानते हैं, उसका ही मुझे उपदेश कीजिए ॥ ४ ॥

मैत्रेयी के इस प्रकार वित्त का तिरस्कार कर देने पर याज्ञवल्क्य ने प्रसन्न होकर कहा—अरे मैत्रेयी, तुम्हारा कथन बड़ा मीठा है। आओ मेरे समीप बैठो, मैं अमृत-साधन का प्रतिपादन करूँगा।

मैत्रेयी ने अत्यन्त नम्र भाव तथा श्रद्धा से कहा—महाराज! आप उपदेश करें।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, यह अत्यन्त रहस्यमय तत्त्व है, एकाग्रचित्त होकर मेरे वचनों को सुनो ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्य कहने लगे—पति के प्रयोजन (कामना, प्रसन्नता आदि) की दृष्टि से पति पत्नी को प्रिय नहीं होता; प्रत्युत अपनी ही कामना-पूर्ति के लिए पति प्रिय होता है। अर्थात् अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही पत्नी पति से प्रेम करती है; न कि पति के प्रयोजन की सिद्धि के लिए। जब रोगादि के कारण पति पत्नी की इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकता, तो पत्नी में पति के लिए वह प्रेम नहीं रहता।

ठीक इसी प्रकार पति भी पत्नी से पत्नी की कामना-पूर्ति के लिए प्रेम नहीं करता; प्रत्युत अपनी ही कामना की पूर्ति के लिए वह पत्नी से प्रेम करता है। यह सत्य है कि पति पत्नी परस्पर एक दूसरे की कामना-पूर्ति भी करते दीखते हैं। और इस परस्पर कामना-पूर्ति के उद्देश्य से उनका सामाजिक विधानादि के अनुसार सम्बन्ध होता है, परन्तु प्रत्येक का

उद्देश्य अपनी-अपनी कामना-पूर्ति ही होता है। और इसी भाव से पति-पत्नी का प्रथम चुनाव होता है।

ऐसे ही पुत्र की कामना की पूर्ति के लिए पिता को पुत्र प्रिय नहीं होता, प्रत्युत अपनी कामना की पूर्ति के लिए ही पुत्र प्यारा होता है। देखा जाता है कि बच्चा कई बार पिता के पास नहीं आना चाहता; पिता के हठ करने पर रोता भी है; परन्तु पिता उसके रोने-चिल्लाने की अवहेलना करके अपनी प्रसन्नता के लिए बच्चे को उठाता है, चूमता है इत्यादि। दोनों ओर चेतन प्राणियों के परस्पर प्रेम में निज मन्तव्य आत्महित विषयक संदेह की सम्भावना हो सकती है; उसकी निवृत्ति के लिए जड़ पदार्थ अर्थात् वित्त (धन) का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं; क्योंकि धन अथवा प्रासाद आदि का किसी मनुष्य (स्वामी) के सम्पर्क (स्वामित्व तथा उपयोग) से कुछ सिद्ध नहीं होता। मनुष्य ही उनसे अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होने के कारण धन आदि से प्रेम करता है। उद्देश्य, प्रयोजन, लक्ष्य, हित आदि शब्दों का प्रयोग चेतन प्राणी की दृष्टि से ही हो सकता है। जड़ पदार्थ के सम्बन्ध में ये शब्द निरर्थक हो जाते हैं। मनुष्य अपनी कामना-पूर्ति के लिए ही गधे, घोड़े आदि पशुओं से प्रेम करता है। पशुओं को तो विवशता में बोझ ही ढोना पड़ता है। मनुष्य ही इन बेचारों को जंगल से पकड़ लाता है, और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनको घास, पानी आदि देता है, और जब ये वृद्ध अथवा रोगी हो जाने के कारण निकम्मे हो जाते हैं, तो इनकी आवश्यकता-पूर्ति की ओर से उपेक्षा कर देता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण भी मनुष्य को अपने हित की दृष्टि से प्रिय होते हैं क्योंकि मनुष्य इन उत्तम जातियों के कारण

मान, ऐश्वर्य आदि लाभ करता है; इन वर्णों का इस सम्बन्ध से कुछ हित सिद्ध नहीं होता।

मनुष्य पितृ आदि उत्तम लोकों की कामना भी अपने सुख भोग के लिए करता है। मनुष्य की प्रीति से उन उत्तम लोकों तथा वहां के रमणीय भोगों का कुछ हित साधन नहीं होता।

कोई उपासक उत्तम लोकों के अधिपति इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं की उपासना इन उपास्य देवताओं के किसी प्रयोजन को सिद्ध करने की दृष्टि से नहीं करता, प्रत्युत अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए (अपने अनिष्ट की निवृत्ति तथा इष्ट की प्राप्ति के लिए) ही उनकी उपासना करता है।

ऋगादि वेदों का अध्ययन और उनके अनुष्ठान-विचार आदि को मनुष्य अपनी उत्तम गति की प्राप्ति रूपी कामना-पूर्ति के लिए ही करता है, मनुष्य के उपर्युक्त व्यवहार से ईश्वरीय नित्य ज्ञान रूप वेदों का कुछ हित साधन नहीं होता।

भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच भूतों से मनुष्य इसलिए प्रेम करता है कि ये उसको स्थान-प्रदान, तृषा-निवृत्ति, पाकादि द्वारा उपकार करते हैं। इसके प्रेम करने से इन भूतों का तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है।

आख्यायिका के उपर्युक्त भाग का निष्कर्ष

एक साधारण मनुष्य भी निज प्रेम व्यवहार के विश्लेषण से उपनिषद् में कहे प्रेम-विषयक रहस्य को हृदयङ्गम कर सकता है कि पति, पत्नी, पुत्र आदि संबन्धियों; वित्त, पशु, अन्न आदि जड़ चेतन लौकिक सम्पत्ति; ब्राह्मण आदि तथा उनके धर्म; उत्तम

लोक तथा उनके अधिपति देवता अथवा उनकी उपासना; तथा वेद अथवा अन्य सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों से भी मनुष्य का प्रेम आत्म-कामना की पूर्ति के लिए ही होता है। चाहे वह धर्म, परोपकार, उपासना आदि उत्कृष्ट पदार्थ हों अथवा अन्य निकृष्ट पदार्थ हों; इन भिन्न-भिन्न पदार्थों की कामना-पूर्ति के उद्देश्य से इन से प्रेम नहीं होता है।

इस विस्तृत निरूपण से यही रहस्य प्रकट होता है कि प्रत्येक मनुष्य (प्राणिमात्र) की प्रीति निज आत्मा में निरपेक्ष, अव्यभिचारी अतः मुख्य है; और अन्य संपूर्ण आत्मा से भिन्न पदार्थों में सापेक्ष, व्यभिचारी तथा गौण है। जिस-जिस पदार्थ से इसका जितना उपकार सिद्ध होता है; उतना-उतना ही इस का उस पदार्थ से प्रेम होता है। यदि दो प्रिय पदार्थों में से केवल एक की प्राप्ति संभव हो, तो अपने हित की तुलना से ही इनका चुनाव करता है। यदि अधिक प्रिय पदार्थ के लिए एक का नाश भी करना पड़े तो भी उसमें कुछ संकोच नहीं करता।

अनात्म-पदार्थों के प्रेम में न्यूनता तथा वृद्धि होती है; परन्तु आत्म-प्रेम सर्वदा एकरस रहता है। समय-समय पर आत्मा से भिन्न प्रेम के विषय पति, पत्नी, पुत्र, वित्त आदि परिवर्तित होते रहते हैं, परन्तु आत्म-प्रेम में उत्कर्ष तथा अपकर्षरूप परिवर्तन किसी काल में भी नहीं होता। संपूर्ण प्रेम का केन्द्र सदा आत्मा ही होता है। आत्मा ही प्रेमचक्र की नेमि है। प्रत्येक प्राणी की यह इच्छा होती है कि मैं सर्वदा बना रहूँ; मेरा अभाव किसी काल में भी न हो, यह इच्छा ही एकरस आत्म-प्रेम को सिद्ध करती है।

उपर्युक्त विवेचन से यही असंदिग्ध परिणाम निकलता है कि प्रत्येक प्राणी का सर्वोत्कृष्ट, निरतिशय प्रेम निज आत्मा से ही है; क्योंकि अन्य सर्व अनात्म पदार्थों से प्रेम का कारण उन-पदार्थों द्वारा आत्म-उपकार ही है। अर्थात् आत्मा में प्रेम साक्षात् बिना किसी द्वार के होता है और अन्य सब में प्रेम का द्वार आत्मा ही है; अतः आत्मा, सर्वोत्कृष्ट पर निरतिशय प्रेम का विषय है; जैसे—

(१) पुत्र के मित्र में प्रेम का द्वार पुत्र होता है। पुत्र से प्रेम उसके मित्र से प्रेम की अपेक्षा निरपेक्ष, स्वतंत्र तथा साक्षात् होता है। ऐसी अवस्था में यह सर्वसाधारण का अनुभव है कि पुत्र का प्रेम पुत्र के मित्र के प्रेम से अधिक होता है।

(२) इसके अतिरिक्त यह भी सर्वविदित ही है कि प्राणी का स्वतः निरपेक्ष प्रेम सुख में तथा सापेक्ष प्रेम सुख के साधन में होता है।

अतः उपर्युक्त दो रहस्यों के योग से यह सिद्ध होता है कि आत्मा निरपेक्ष प्रेम का विषय होने के कारण परम (सुख) आनन्द स्वरूप है।

मनुष्य जीवन का परम साध्य तथा उसके साधन

अतः प्रत्येक विचारवान् मनुष्य को उस आत्मा की उपलब्धि (दर्शन) करनी चाहिए। इसके पश्चात् आख्यायिका में आत्मदर्शन के अन्तर्तम साधनों तथा उनके फल का निर्देश है। अर्थात् आत्मदर्शनार्थ आत्मविषयक उपनिषदादि ग्रन्थों का श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से श्रवण करना चाहिए तथा मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। अरे मैत्रेयि! उपर्युक्त

विधि से आत्मा के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन करने पर आत्मा से भिन्न संपूर्ण उपर्युक्त कार्यकारणात्मक पदार्थों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है, अर्थात् उनके परमार्थ आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है।

आख्यायिका द्वारा ब्रह्मविद्या संबन्धी उपयोगी शिक्षा

उपर्युक्त आख्यायिका में ब्रह्मविद्यासंबन्धी अनेक पदार्थों का बोध हो जाता है, जैसे—(१) अनात्म पदार्थों से दृढ वैराग्य। (२) अनात्म पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति-त्याग रूपी वैराग्य-जन्य संन्यास। (३) अमृतत्व की तीव्र तथा सच्ची जिज्ञासा। (४) आत्मा की सर्वोत्कृष्ट प्रियरूपता अथवा परमानन्दरूपता। (५) आत्म-प्राप्ति के अन्ततम साधन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का बोध। (६) आत्मज्ञान द्वारा परमानन्द स्वरूप तथा अजर अमर आत्म-तत्त्व की प्राप्ति।

शिक्षा का महत्त्व

ब्रह्मविद्या की शिक्षा के उपर्युक्त सभी अत्यन्त उपयोगी अंग हैं, जिनमें से किसी एक के अभाव से निर्वाह नहीं हो सकता। इन सबका आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः एक दूसरे से पृथक् किसी का अस्तित्व ही सम्भव नहीं अथवा ये एक दूसरे के रूपान्तर ही हैं। उत्तम अधिकारी को इन सब का समुज्ज्वल रूप, इनके परस्पर सम्बन्ध, उपयोग तथा महत्त्व का सुस्पष्ट बोध इस संक्षिप्त आख्यायिका से तुरन्त हो जाता है। ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इस आख्यायिका के द्वारा वेदान्त सागर को गागर में भर दिया गया है। उत्तम अधिकारी के लिए इसमें सब सामग्री उपस्थित है। बृहदारण्यक उपनिषद् अपने नाम

के अनुसार सब से बृहद् उपनिषद् है, और इसका चतुर्थ अध्याय सब से बड़ा अध्याय है, जिस में याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में, पूर्व के चार ब्राह्मणों में बड़े परिश्रम से प्रधानतया तर्क का अवलम्बन करके याज्ञवल्क्य ने प्रश्नोत्तर रूप से जनक को वेदान्त-तत्त्वों का उपदेश किया है। यह मैत्रेयी ब्राह्मण नामक पंचम ब्राह्मण पूर्वोक्त संपूर्ण शिक्षा का निगमन स्थानीय अर्थात् उपसंहार है, अतः इस में वेदान्त-रहस्य का संक्षेप से संग्रह होना स्वाभाविक है।

ब्रह्मविद्या का अधिकारी

अधिकारी की साधन-चतुष्टय रूपी सामग्री में वैराग्य तथा आत्म-जिज्ञासा की मुख्यता है। जैसे श्री शंकराचार्य जी ने भी विवेक चूडामणि में कहा है—

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रम् यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥
एतयोर्मंदता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता॥

वि० चू० ३०, ३१

"जिस साधक में वैराग्य तथा मुमुक्षा की तीव्रता होती है, उसकी ही अन्य शमादि सम्पत्ति में फल उत्पन्न करने की सामर्थ्य होती है। और यदि ये दोनों मन्द हों, तो शमादि सम्पत्ति मरु भूमि में जलके समान सब आभास मात्र ही होती है।"

इस आख्यायिका में अधिकारी की इस प्रमुख सामग्री का स्वरूप, हेतु तथा फलसहित निर्देश है।

प्रथम साधन वैराग्य—धन से जीवनोपयोगी इहलौकिक अनित्य पदार्थ खान, पान, वस्त्र आदि भोग प्राप्त हो सकते हैं, अथवा अग्निहोत्र आदि कर्मों में इस धन के उपयोग करने से अनित्य लोक ही प्राप्त हो सकते हैं। तथा स्त्री, पुत्र, धन, पशु, लोक आदि क्योंकि निरपेक्ष पर, प्रीति का विषय नहीं हैं। अतः ये परमानन्द स्वरूप नहीं, अथवा इन पदार्थों में जो कुछ भी सुख भासता है, वह परिच्छिन्न उपाधि के योग के कारण आत्मानन्द ही परिच्छिन्न रूप से भास रहा है। इस विभाग द्वारा धनादि अनात्म पदार्थों में उपर्युक्त दोषों के निरीक्षण तथा सतत मनन से वैराग्य की सिद्धि होती है।

दूसरा साधन-अमृतत्व की इच्छा अथवा आत्मजिज्ञासा—मुमुक्षा, अमृतत्व की इच्छा अथवा आत्मजिज्ञासा उपर्युक्त दृष्टि में ही निहित हैं, एक ही दृष्टि के मानो दो रूप हैं। अमृतत्त्व की प्रबल इच्छा के बिना अनात्म पदार्थो में अनित्यत्व, अतृप्तिकरत्व आदि दोष दीखते ही नहीं। जैसे अनित्य तथा नित्य सापेक्ष हैं, ऐसे ही अनित्य से वैराग्य—उपेक्षा—तथा नित्य—अमृत—की इच्छा भी सापेक्ष हैं, इन में अविनाभाव सम्बन्ध है तथा परस्पर हेतुहेतुमद्‌भाव सम्बन्ध है।

इस आख्यायिका से यह निर्देश किया गया है कि जो साधक मैत्रेयी के समान धन-साध्य इहलौकिक तथा पारलौकिक भोगों से विरक्त है और जिसे अमृतत्त्व की जिज्ञासा है वही ब्रह्मविद्या के उपदेश का अधिकारी है। क्योंकि ऐसी आध्यात्मिक सामग्री से सम्पन्न मनुष्य ही ब्रह्मविद्या के अत्यन्त सूक्ष्म रहस्य को हृदयङ्गम कर सकता है; इसके बिना कदापि नहीं कर सकता और इस साधनहीन दशा में साधक तथा उपदेष्टा का सर्व प्रयत्न निष्फल हो जाता है।

ब्रह्मविद्या और अधिकारी का सम्बन्ध

कामी की दृष्टि से कामिनी एक अमूल्य वस्तु है। ऐसे ही लोभी की दृष्टि में काञ्चन। कामी के प्राण कामिनी में हैं, वही उसके जीवन का सार तथा रस है। दोनों का परस्पर सापेक्ष महत्त्व है। कामी ही कामिनी का उपभोग कर सकता है। नपुंसक के सम्मुख यदि एक रूपवती, युवती अप्सरा, सम्पूर्ण शृंगार तथा भूषणों से युक्त नग्न भी उपस्थित हो, तो भी उसे उस से क्या काम ? उसके लिए वह सारहीन है, उसका यौवन तथा लावण्य उसके लिए निरर्थक है। उस पर उसका कुछ प्रभाव नहीं; वह उसके रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकता। उसके लिए घास के तिनके से अधिक उसका मूल्य नहीं। ऐसे ही जिज्ञासु की दृष्टि में ब्रह्म तथा ब्रह्मविद्या रूपी उपनिषद् वेदान्त का महत्त्व है। सचमुच वह ब्रह्म अनन्त, अखण्ड आनन्द का भण्डार ही नहीं, अनन्तानन्द स्वरूप ही है। परन्तु जैसे कामी ही कामिनी को उपभोग कर सकता है; वैसे ही सम्पूर्ण संसार से विरक्त एकमात्र ब्रह्म का जिज्ञासु वेदान्त के रहस्य को हृदयङ्गम कर सकता है। वह वेदान्त तो जिज्ञासु के प्राण हैं। वेदांत की एक-एक पंक्ति, शब्द तथा अक्षर उसकी एक एक नस में विलक्षण तरङ्ग उत्पन्न कर देते हैं; इसके लिए ये कोई अगम्य रहस्य की वस्तु नहीं। ये तो सूर्य के समान उसके लिए स्फुट रूप से प्रकाशमान तथा व्यक्त हैं। जिज्ञासु रूपी बछड़े को निहार कर उपनिषद् रूपी गौ अपने गुप्त रहस्यमय दुग्ध को उतार देती है। जिज्ञासु और ब्रह्मविद्या का माता तथा बच्चे के समान नैसर्गिक संबन्ध है। दोनों में परस्पर स्नेह है। दोनों के मनोरथ एक दूसरे को पाकर सफल होते हैं। चक्षु तथा रूप का प्राकृतिक—स्वाभाविक संबन्ध है; चक्षु को रूप के ग्रहण करने

के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता; और श्रवणेन्द्रिय प्रयत्न करने पर भी न तो रूप का ग्रहण ही कर सकती है और न उसका उपभोग कर सकती है। ब्रह्मविद्या के विषय में ऐसी ही दशा सच्चे जिज्ञासु तथा संसार की भी होती है। जैसे चक्षु का स्वभाव रूप को ग्रहण करना होता है, ऐसे ही जिज्ञासु का तो स्वभाव ही ब्रह्मविद्या के रहस्य को ग्रहण करना है। अतः वह उसके तात्पर्य को तथा परम अर्थ ब्रह्मरूप को भी तुरन्त ग्रहण कर लेता है और जो संसार से विरक्त तथा जिज्ञासु नहीं उसके लिए अनन्त प्रयत्न करने पर भी इस रहस्य को हृदयङ्गम करना असंभव है। ब्रह्म तत्त्व वाङ्मनसा-अगोचर है; फिर भी शास्त्र तथा गुरु लक्षणों द्वारा तथा निषेध मुख से येन केन प्रकारेण जिज्ञासु को मूलतत्त्व तक पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। तथ्य अर्थ एक ही होता है, भ्रान्त अर्थ अनन्त हो सकते हैं। यही कारण है कि मूलतत्त्व के एक होने पर भी उसके विषय में अनन्त मत प्रचलित हैं। क्योंकि इस विषय में अन्वेषण करने वालों की बुद्धियां भिन्न-भिन्न होती हैं। जितना नाम रूप संसार है वह सब मूलतत्त्व रूपी अधिष्ठान में आरोपित है। जिसकी संसार के किसी पदार्थ में रुचि है तथा तद्विषयक कामना है; वह शास्त्र तथा गुरु-उपदिष्ट लाक्षणिक अर्थ को ग्रहण न करके अपनी बुद्धि की स्थिति के अनुसार तथा मनोकामना के अनुरूप भ्रान्त शक्य-अर्थ को ग्रहण करता है। परम तत्त्व को वही जिज्ञासु ग्रहण कर सकता है अथवा परम तत्त्व अपना स्वरूप उसी जिज्ञासु के सम्मुख व्यक्त करता है. जो अन्य सब आरोपित सांसारिक पदार्थों में इष्ट बुद्धि को त्याग कर केवल आत्म तत्त्व को ही वरण करता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
कठ २, २३ ॥

"यह आत्मतत्त्व प्रवचन (वेदान्त के कथन अथवा व्याख्यान) मात्र से प्राप्त नहीं होता, न शास्त्र-तात्पर्य को धारण करने वाली मेधावी बुद्धि से और न अनन्त शास्त्र के श्रवण मात्र से। ये सब उपयोगी साधन हैं; परन्तु ये सब सामग्री आत्म-विषयक अनन्य जिज्ञासा के बिना निरर्थक है। जो साधक इस आत्मा की अनन्य अभिलाषा रखता है, वही उत्तम तथा यथार्थ जिज्ञासु है; वही आत्मा को प्राप्त करने के योग्य होता है। अथवा आत्मा अपने यथार्थ, अखण्ड, सूक्ष्मतम वाङ्मनसा-अगोचर दुर्विज्ञेय स्वरूप को ऐसे जिज्ञासु के सम्मुख व्यक्त कर देता है।" सच्चा जिज्ञासु वही है जिसे एकमात्र आत्म-तत्त्वविषयक अनन्य अभिलाषा है। जिस में उत्तम से उत्तम सांसारिक आरोपित पदार्थों की यत्किञ्चित् भी अभिलाषा है, जिसकी बुद्धि स्थूल है, वह उस सूक्ष्मतम, सर्वाधिष्ठान, मूलतत्त्व का सच्चा जिज्ञासु नहीं कहला सकता। इस जिज्ञासा का अभाव ही परम पुरुषार्थ सिद्धि में बाधक है। अन्यथा इस के समान अत्यन्त स्फुट, प्रकाशमान, सुलभ अन्य कोई पदार्थ नहीं। और इसके बिना इसके समान अन्य कोई पहेली नहीं।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता, कुशलोऽस्य
लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥
कठ. २,७ ॥

"यह आत्मतत्त्व अन्तर्तम, सूक्ष्मतम तथा आनन्द स्वरूप होने के कारण परम इष्ट है; इसलिए अनन्त जन्मों के पुण्य सञ्चय के अभाव में परम तत्त्व विषयक उपनिषदों का श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से श्रवण मात्र भी प्राप्त नहीं होता; ऐसे ही अनेक हेतुओं के कारण; असंस्कृत अन्तःकरण वाले उपनिषद् श्रवण करने पर भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकते। ऐसे अद्वितीय वाङ्मनसा-अगोचर तत्त्व का उपदेष्टा तथा ज्ञाता दोनों संसार भर में आश्चर्य स्वरूप (विलक्षण) हैं। वही महाभाग्यवान् तथा चतुर है जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से आत्मविषयक उपदेश का श्रवण करता है, और इसके फलस्वरूप उस तत्त्व को पा लेता है।"

(क) जिज्ञासा तथा संन्यास

इस आख्यायिका से यह सिद्ध होता है कि अमृतत्व की जिज्ञासा के लिए संन्यास आश्रम एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है। (१) श्रेय (अमृतत्व) तथा प्रेय (अनित्यभोग) दोनों की अभिलाषा एक पुरुष में होना असंभव है। क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। (२) श्रेय की तथ्य जिज्ञासा में भोग के साधनों का त्याग अनेक हेतुओं से स्वाभाविक है। धन से ही अग्निहोत्र कार्य सिद्ध होते हैं; अतः धन के त्याग से अग्निहोत्र आदि कर्मों के त्याग रूपी संन्यास में प्रवेश अनिवार्य हो जाता है। (३) इसके अतिरिक्त कर्म-साध्य अनित्य लोकों की प्राप्ति में इष्ट बुद्धि भी नही रहती। अर्थात् जिज्ञासा के उत्पन्न हो जाने पर कर्म के साधन धन, तथा साध्य प्रेय के त्याग के कारण कर्म-त्याग रूपी संन्यास स्वाभाविक हो जाता है।

(ख) विद्वत्-संन्यास

ब्रह्मविद्या में निपुण, आत्मदर्शी याज्ञवल्क्य के संन्यासाश्रम में प्रवेश करने से आख्यायिका यह स्पष्ट निर्देश करती है कि आत्मदर्शी के लिए भी साधारणतया जीवन्मुक्ति के सुख के लिए, इसमें विक्षेप रूप कर्म का त्याग करके संन्यास आश्रम में प्रवेश जरूरी है। तथा कर्म का फल अनित्य भोग होता है; परन्तु ज्ञानी का ध्येय नित्य आत्मलोक होता है। इसलिए संन्यास ही आत्मनिष्ठा का लिंग है। निष्क्रिय, निर्व्यापार, एकरस आत्मा के दर्शन हो जाने पर, निजविषयक कर्तृत्व भोक्तृत्व भ्रान्ति के नाश हो जाने के कारण कर्तव्य रूप से कर्म का त्याग हुए बिना नहीं रह सकता।

मनुष्य जीवन का ध्येय—आत्म-दर्शन

आत्मा पर-प्रेम का विषय तथा प्रत्येक व्यवहार और सम्बन्ध में अव्यभिचारी होने के कारण आनन्द स्वरूप, एकरस, कूटस्थ तथा निर्विकार सिद्ध होता है। और ऐसा सुख ही प्राणिमात्र का ध्येय है, इसलिए आत्मोपलब्धि अथवा दर्शन ही मनुष्य जीवन का एक मात्र तथ्य ध्येय सिद्ध होता है। अन्य संपूर्ण व्यवहारों तथा पदार्थों का निरपेक्ष महत्त्व कुछ नहीं रह जाता। इनका साधन रूप से ही विचार-युक्त उपभोग हो सकता है तथा एक मात्र आत्मध्येय में इन का उपयोग ही इन की उचित मात्रा और महत्त्व का आधार हो सकता है।

आत्मदर्शन के अन्तर्तम साधन

आत्मदर्शन के साधनों के रूप में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश है। इन तीन अन्तर्तम साधनों का इतना संक्षिप्त तथा स्पष्ट उपदेश उपनिषदों में अन्यत्र कहीं नहीं

मिलता। इस में तो सन्देह नहीं कि संपूर्ण उपनिषदों में इन तीन साधनों का मुख्य रूप से विवेचन है, परन्तु सूत्र रूप से इन का निर्देश इसी आख्यायिका में है, शेष सम्पूर्ण उपनिषदें इस का व्याख्यान रूप हैं। यह ब्रह्मविद्या का बीज है और शेष संपूर्ण उपनिषदें इस बीज का ही विकसित रूप—विशाल वृक्ष हैं। इस ब्राह्मण में आया हुआ "आत्मा वारे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः" वाक्य ही संपूर्ण ब्रह्मसूत्र तथा अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी आदि अन्य प्रसिद्ध वेदान्त ग्रन्थों के विषयविभाग तथा क्रम का आधार है। इन में से प्रत्येक के चार ही अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय का विषय इस वाक्य में आए एक एक शब्द से निर्दिष्ट आदेश है। (१) इन सब शास्त्रों के प्रथम अध्याय में श्रवण अर्थात् शास्त्र के परम तात्पर्य का निरूपण है। इसी लिए वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय का नाम समन्वय अध्याय है। (२) द्वितीय अध्याय में मनन का निरूपण है, जिस में समन्वय अध्याय में निर्णीत परम तत्त्व विषयक विरोधी तर्काभास का वेदान्त शास्त्रसम्मत तथ्य तर्क द्वारा खण्डन किया गया है। इसी लिए वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय का नाम मनन अध्याय है। (३) तीसरे अध्याय का नाम साधन अध्याय है, क्योंकि इस में कर्म, साधन चतुष्टय, तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूपी भिन्न-भिन्न साधनों का बहिरंग, अन्तरंग तथा अन्ततम साधनों के रूप से निर्धारण किया गया है। और (४) चतुर्थ अध्याय का नाम फल अध्याय है, क्योंकि इस में पूर्व अध्यायों में वर्णित उपायों से आत्म-प्रतिपत्ति (दर्शन) रूपी फल के स्वरूप का निर्णय किया गया है। अर्थात् ४र्थ अध्याय में आत्म-दर्शन का ही भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन है। अतः सम्पूर्ण उपनिषदें, तत्सम्बन्धी ब्रह्मसूत्र

तथा वेदान्त के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ इस सूत्र रूप वाक्य की व्याख्या ही हैं। यह वाक्य ही मानव जीवन के परम ध्येय तथा उसके साधन के विषय में आधारभूत है।

श्रवणादि का परस्पर सहयोग

इन साधनों के सामान्य स्वरूप, प्रयोजन, सापेक्ष महत्त्व तथा परस्पर सहयोग का विवेचन यथास्थान ब्रह्मविद्या पुस्तक के प्रथम खण्ड के २, ३ अध्यायों, तथा ३य खण्ड के ३, ४, ५ अध्यायों में किया गया है। आजकल के नास्तिक युग में यह विषय महत्त्वपूर्ण और विशेष मननीय है। परन्तु उस सब को यहां पूर्णतया उद्धृत करने का स्थान तथा प्रयोजन नहीं है। यहां उनका संक्षिप्त निरूपण कर देना ही उपयुक्त है। जिन्हें इस विषय में विशेष जानने की आवश्यकता हो, वे वहां से देख सकते हैं। वहां पर शास्त्र, तर्क तथा विज्ञानादि क्षेत्रों में प्रचलित सिद्धान्तों के आधार पर निम्नलिखित विषयों का निरूपण किया गया है।

(१) शब्द प्रमाण अर्थात् श्रुति उपनिषद्।

(२) अनुमान।

(३) लौकिक प्रत्यक्ष की सामर्थ्य तथा कार्य-क्षेत्र।

(क) लौकिक प्रत्यक्ष

लौकिक प्रत्यक्ष का मुख्य साधन बाह्य इन्द्रियां (तथा सर्व-साधारण मन तथा बुद्धि) हैं, अतः इस प्रमाण से बाह्य भौतिक जगत् के व्यापारों, मानसिक सर्व सामान्य व्यापारों तथा श्रम, राग, द्वेष, क्रोध आदि भावों का ज्ञान ही हो सकता है।

(ख) अनुमान

(१) *स्वरूप*—अनुमान, तर्क तथा सामान्य बहिर्मुख स्थूल बुद्धि से परोक्ष—अप्रत्यक्ष—ज्ञान हो सकता है इस से कार्य-कारण संबन्ध के आधार पर किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा किसी संबन्धित पदार्थ के सामान्य स्वरूप का परोक्ष ज्ञान ही होता है, जैसे धुएँ से अग्नि का।

(२) *भौतिक विज्ञान में इस का उपयोग*—इसीलिए भौतिक जगत् के ज्ञान अर्थात् भौतिक विज्ञान में यह सहकारी है, मुख्य नहीं है। यद्यपि इसके सहयोग के बिना भौतिक जगत् का ज्ञान क्षुद्र तथा क्रमशून्य हो जाता है। इसी लिए ऐसे प्राकृत जन के साधारण प्रत्यक्ष ज्ञान का नाम विज्ञान कदापि नहीं रखा जा सकता। यह सामान्य लौकिक बुद्धि, अनुमान तथा तर्क ही प्राकृतजन-अनुभूत सम्बन्ध, क्रम शून्य घटनाओं के सम्बन्ध, क्रम तथा अन्य रहस्यों को प्रस्फुटित करने के कारण भौतिक विज्ञान की जन्मदात्री है। परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार के विना भौतिक विज्ञान का विशाल मन्दिर खड़ा नहीं हो सकता। एक अंधे न्यूटन को भी रूप आदि का विशेष प्रत्यक्ष ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। तथा यह सामान्य अनुमान-जन्य ज्ञान प्रायः अनेक कल्पनाओं से दूषित होता है। इसीलिए प्रत्येक क्षेत्र में सामान्य बुद्धि अनुमान तथा तर्क से निर्धारित किए गए विचार, सिद्धान्त बदलते रहते हैं।

(३) अध्यात्म क्षेत्र में इस का उपयोग—जैसे बाह्य, स्थूल भौतिक जगत् में अनुमान का कार्य प्रत्यक्ष की सहायता तथा सेवा करना होता है, क्योंकि यह इस क्षेत्र में सेवक है, स्वामी नहीं। ऐसे ही सूक्ष्म आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अनुमान का

कार्य इस क्षेत्र में मुख्य साधन श्रुति के सेवक रूप से सहयोग करना है। इस क्षेत्र में भी इसका कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके सहयोग के बिना साधक केवल श्रुति के आधार पर परम लक्ष्य के स्वरूप तथा साधन आदि का सम्यक् निर्णय नहीं कर सकता। श्रुतितात्पर्य निर्धारण के षड्लिंगों में उपपत्ति रूपी अनुमान, तर्क, युक्ति का केवल समावेश ही नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक लिंग में इस का किसी न किसी रूप में उपयोग अनिवार्य है। इस प्रकार अनुमान आदि की सामर्थ्य को किसी क्षेत्र में भी नितान्त तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, परन्तु फिर भी अनुमान (तर्क) का उपयुक्त स्थान सेवक का है, स्वामी का नहीं। अध्यात्म क्षेत्र में श्रुति स्वामिनी है और अनुमान उस का दास। अनुमान का काम सर्वज्ञ परमात्मा के निर्दोष ज्ञान वेद तथा ऋषि, सन्तों के दिव्य बुद्धिजन्य अध्यात्म क्षेत्र के प्रत्यक्ष ज्ञान का विरोध करना नहीं है। वह कहीं भिन्न-भिन्न अनुभूतियों आदि के किसी प्रकार के परस्पर असमञ्जस को सुलझा सकता है, परन्तु स्वतन्त्रतया किसी उपर्युक्त निर्देश को झुठला नहीं सकता। स्थूल, बुद्धि, अनुमान तथा तर्क को अपनी सामर्थ्य की मर्यादा तथा महत्त्व को समझते हुए आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रुति तथा भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रत्यक्ष का उचित सहयोग करना चाहिए। इसे श्रुति तथा प्रत्यक्ष के अपने अपने उचित अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

(ग) श्रुति

प्रत्यक्ष तथा भौतिक विज्ञान के विषय बाह्य स्थूल जगत से भिन्न (१) सूक्ष्म आन्तर जगत् (२) स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् के शासक सर्वशक्तिमान् ईश्वर और (३) देह स्वामी जीव

आदि को किसी प्रकार यदि स्वीकार कर लें तो इस क्षेत्र में सर्वज्ञ ईश्वर का पूर्ण निर्दोष ज्ञान वेद तथा दिव्यदृष्टिसम्पन्न ऋषियों का अनुभूत प्रत्यक्षावलम्बित शब्द ज्ञान ही मुख्य प्रमाण ठहरता है।

(१) अध्यात्म क्षेत्र तथा लौकिक प्रत्यक्ष

लौकिक प्रत्यक्ष का विषय तो बाह्य स्थूल जगत् तक ही सीमित है; जैसे कि हम पूर्व भी निर्धारण कर चुके हैं। अतः लौकिक प्रत्यक्ष तो इस विषय में सर्वथा पंगु है।

(२) अध्यात्म क्षेत्र तथा अनुमान

साधारण बहिर्मुखी बुद्धि पर अवलम्बित अनुमान—तर्क—युक्ति का स्वतन्त्रतया अपनी सामर्थ्य से इन अध्यात्म तत्त्वों का खण्डन करना, केवल इस की अपनी सामर्थ्य आदि के विषय में अनभिज्ञता के कारण है। और ऐसा करना इसका निर्मूल वृथा अभिमान है। यद्यपि आजकल इसके सहयोग से विज्ञान का विस्मयजनक विकास तथा भौतिक क्षेत्र में प्रभुत्व होने के कारण इसका बोल-बाला हो रहा है; परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में प्रमुखता प्रत्यक्ष की है। जैसे ऊपर न्यूटन के दृष्टांत से बताया गया है कि विज्ञान के क्षेत्र में भी तर्क आदि का कार्य अनुग्राहक, सेवक का ही है, स्वामी तो प्रत्यक्ष ही है। उसके अतिरिक्त इस भौतिक क्षेत्र में भी तर्क की अप्रतिष्ठा है। यह नित्य परिवर्तनशील, काल्पनिक सिद्धान्तों का स्रोत है। यदि विज्ञान के क्षेत्र में भी यह अपने इन उपर्युक्त दोषों का धैर्य तथा निष्पक्ष भाव से, निरभिमान होकर निरीक्षण करता तो इसे अपनी तथ्य सामर्थ्य तथा उपयोगिता का पता चल जाता। और फिर यह अध्यात्म क्षेत्र में श्रुति को अपने

अधिकारोचित स्वामी पद से च्युत करके, स्वयं इस पद पर आरूढ़ होकर वर्तमान मानव-समाज को राग-द्वेष, परस्पर के वैमनस्य, अविश्वास, मलिन स्वार्थ, कलह-क्लेश तथा निरन्तर चालू रहने वाले विश्वव्यापी युद्ध की नरक अग्नि में न धकेलता। क्या संसार भर की यह भयानक शोचनीय अवस्था बहिर्मुखी, स्थूल, नास्तिक बुद्धि की धुंधली आँखों से अज्ञान जन्य, वृथा, सर्वनाशक अभिमान की पट्टी खोलेगी ?

(३) अध्यात्म क्षेत्र तथा श्रुति

सर्वज्ञ ईश्वर के निर्भ्रान्त ज्ञान का स्रोत वेद ही इस अध्यात्म क्षेत्र में परम तथा मुख्य प्रमाण है। आजकल के युग में, जब कि यह अभिमान किया जाता है कि इतना विज्ञान का विकास पहिले कभी नहीं हुआ और यह अभिमान किसी अंश में सत्य भी है, कोई बच्चा यदि उसे शिक्षा न दी जाए तो वह पशु-सृष्टि से भी गिर जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई प्राणी शिक्षा के विना मानवोचित उन्नति नहीं कर सकता। हां, शिक्षा प्राप्त करके वह पूर्व के भौतिक ज्ञान में कुछ विकास कर सकता है। ईश्वर ही संसार का आदि गुरु है और वेद क्योंकि उसका सहज ज्ञान है अतः वह अपौरुषेय है, निर्भ्रान्त है।

(४) भिन्न-भिन्न प्रमाणों का परस्पर सहयोग

श्रुति अध्यात्म क्षेत्र में परम तथा एक मात्र प्रमाण है। यह क्षेत्र लौकिक प्रत्यक्ष के लिए नितान्त अगोचर है; तथा अनुमान—तर्क—आदि सेवक रूप में श्रुति का सहायक हो सकता है। लौकिक प्रत्यक्ष का क्षेत्र स्थूल भौतिक जगत् है। श्रुति

तथा तद्वलम्बित शब्द प्रमाण को लौकिक प्रत्यक्ष के क्षेत्र अर्थात् विज्ञान के अविष्कारों पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। और प्रत्यक्ष तथा तद्वलम्बित विज्ञान को अध्यात्म क्षेत्रों में ऊधम नहीं मचाना चाहिए। तथा अनुमान को प्रत्यक्ष तथा श्रुति दोनों के अपने-अपने क्षेत्रों में उचित सहयोग देना चाहिए। श्रुति को अनुमान का उचित उपयोग न करके उसे दास के पद से भी वञ्चित नहीं कर देना चाहिए। इस प्रकार सत्य की खोज में अपनी-अपनी सामर्थ्य का उचित उपयोग करके परस्पर सहायता करनी चाहिए; इसी में मानव जाति का हित है। परन्तु इस युग में सामान्य मानवीय बुद्धि तथा अनुमान आदि का ही प्रत्येक क्षेत्र में साम्राज्य हो रहा है। इस अनर्थकारी भूल से मानव समाज और विशेषतया उच्च पाश्चात्य शिक्षा सम्पन्न विभाग की चेतावनी के लिए, इस विषय का कुछ विस्तृत विवेचन किया जाता है; जिस से अध्यात्म सिद्धांत—"औपनिषदं परमं तत्वं"—का युक्ति आदि से समर्थन हो।

(क) अखण्ड चिन्मात्र आत्मा तथा श्रुति प्रमाण

प्रकृत जन अनुभूत स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण उपाधि विशिष्ट आत्मा को इन उपाधियों से पृथक्करण के लिए श्रुति तथा गुरु-उपदेश की अनिवार्य आवश्यकता है।

तक्षशिला में जब पुरातत्त्व विशेषज्ञों ने खुदाई की, तो उस खुदाई में दबी हुई मट्टी की बनी हुई मनुष्याकार मूर्तियां मिलीं। वे मट्टी से इतनी मिल-जुल गयी थीं कि बिना अत्यन्त सावधानी तथा उनके आकार के सामान्य पूर्व ज्ञान के उनको निकाल सकना असंभव था। ऐसे ही कई रेखाओं के बने हुए

ऐसे जंगल के चित्र होते हैं कि उन में बनी हुई रेखामयी गधे की मूर्ति को पहिचान सकना प्रायः असंभव ही होता है। वे गधे की मूर्ति की रेखाएँ अन्य रेखाओं से इस प्रकार मिली-जुली होती हैं कि मनुष्य की दृष्टि उन में से उस गधे को पहिचान नहीं सकती। परन्तु यदि एक बार कोई जानकार उस गधे को दिखा दे तो फिर वह गधे का चित्र आँखों से ओझल नहीं होता। इस प्रकार जैसे भौतिक रूप—आकारों के नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होने पर भी, संकेत पाये बिना उनकी अनुभूति असंभव होती है; ऐसे ही आत्मरूपी परम तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि सब का अधिष्ठान होने के कारण वह सब नाम रूप से अभिन्न हो रहा है। अतः परम तत्त्व के जीव का अधिष्ठान होने पर भी (उसका यथार्थ स्वरूप होने पर भी) श्रुति तथा गुरु निर्देश के बिना, मनुष्य मात्र से अवलम्बित अन्य लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों (साधनों) से इस का ज्ञान होना असम्भव है।

(१) निरुपाधिक आत्मा श्रुतिभिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाण के अगोचर है।

लौकिक प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षावलम्बित अन्य प्रमाणों का विषय रूप आदि प्राकृतिक गुण तथा पदार्थ हैं। चाहे इन प्रमाणों से अन्तःकरण आदि विशिष्ट आत्मा का ज्ञान हो, परन्तु रूपादि से रहित निराकार, निर्व्यापार. अखण्ड, चिन्मात्र, आत्मा का ज्ञान इन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कैसे हो सकता है।

प्रश्न—निरुपाधिक आत्मा तो वाङ्मनस-अगोचर है, इस लिए श्रुति आत्म विषय में कैसे प्रमाण हो सकती है?

उत्तर—श्रुति निषेधात्मक शैली से आत्म तत्त्व का बोध कराती है। आत्मा को वाङ्मनस्-अगोचर तत्त्व कहा गया है। श्रुति भी इसका वर्णन निषेधात्मक वचनों (पुरुषं अशब्दं अनहंकर्तृक आदि) से नेति नेति रूप से कराती है। अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्—कठ १, २, १५।

और "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" आदि विधानात्मक वचन भी सांसारिक रीति से शक्य संबन्ध द्वारा ब्रह्म का निरूपण नहीं कर सकते। प्रत्युत लक्षणा द्वारा उसका निरूपण करते हैं जिस में एक भाग अर्थात् नाम रूप संसार के कर्तृत्व, भोक्तृत्व देश कालादि के त्याग अर्थात् निषेध अथवा बाध द्वारा ही ब्रह्मात्मा का निरूपण किया जाता है। श्रुति भी प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा प्रमाण-गम्य पदार्थों के बाध द्वारा ही उस परब्रह्म का निरूपण करती है। अतः प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षावलम्बित प्रमाणों के द्वारा उस ब्रह्म-आत्म तत्व का ज्ञान कैसे हो सकता है।

(२) श्रुति तथा प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों के व्यवहार में भेद

यह ठीक है कि श्रुति जहां प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध करती है, वहां अपना भी तो बाध कर देती है। परन्तु प्रत्यक्ष तथा तदवलम्बित अनुमान आदि प्रमाण इस प्रकार अपना बाध कभी नहीं करते। जब कभी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा आत्मा आदि पदार्थों के ज्ञान का वर्णन व कथन होता है, तो उन प्रमाणों की यथार्थ स्वीकृति द्वारा अन्य पदार्थों के ज्ञान को यथार्थ स्वीकार किया जाता है। जब यही शैली आत्म-विषयक ज्ञान में भी स्वीकार की जाती है, तो इन प्रमाणों द्वारा आकार आदि गुण विशिष्ट आत्मा का ही ज्ञान हो सकता है, निराकार आत्मा का नहीं।

प्रश्न—सर्व प्रमाणों के बाध से आत्मा का ज्ञान कैसे संभव है ?

उत्तर—निराकार आत्मा तो स्वयं अनुभूति मात्र स्वरूप है, अतः उसका ज्ञान अन्य जड़ पदार्थों के समान प्रमाण-जन्य वृत्ति द्वारा होना असम्भव है। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप होने के कारण ही प्रकाशमान है, वह ज्ञानस्वरूप ही है। उसका (आत्मा का) ज्ञान तो निरर्थक शब्द है। अन्य जड़ पदार्थों के समान उसके प्रकाश—ज्ञानार्थ—अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती।

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

कठ. ५ (१३, १५)

"वह अखण्ड चिन्मात्र आत्मा ही स्वतन्त्रतया निरपेक्ष (मुख्य) नित्य है, अन्य प्रकृति आदि सर्व पदार्थ सापेक्ष (गौण) नित्य हैं। अर्थात् इन की नित्यता आत्मा की नित्यता के आधीन है। नित्य आत्मा में ही स्थिति—आरोप—के कारण वे नित्य प्रतीत होते हैं। ऐसे ही संसार में ब्रह्मादि अथवा मन,

बुद्धि, शरीर आदि जो चेतन पदार्थ प्रतीत होते हैं, उन सब चेतनों में आत्मा की चेतनता ही निरपेक्ष मुख्य तथा पारमार्थिक है, अन्य सब लोकप्रसिद्ध चेतनों की चेतनता सापेक्ष अथवा गौण है, जो चेतन आत्मा में इनकी स्थिति (आरोप) के कारण है। मन बुद्धि के अन्तरात्मा (परमार्थ आत्मा) का जो साक्षात्कार करते हैं, वही नित्य शान्ति को प्राप्त करते हैं, अन्य कदापि नहीं। (१३)

पुनः नचिकेता के प्रश्न करने पर कि उस प्रकाशात्मक आत्मा का विस्पष्ट भान बुद्धि आदि के द्वारा कैसे होता है? यमाचार्य उत्तर देते हैं कि उस स्वप्रकाश, चिन्मात्र आत्मा को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्र, न तारे, न बिजली; तो फिर यह क्षुद्र अग्नि कैसे उसको प्रकाशित कर सकती है, अर्थात् कदापि नहीं। क्योंकि सूर्य आदि जो कुछ भी इस जगत् में प्रकाशित हो रहा है; वह सब कुछ उस परमात्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है; यह सूर्यादि का अपना प्रकाश नहीं है; ये सब आत्मप्रकाश के संयोग के अनन्तर (उसके कारण) प्रकाश करते हुए प्रतीत होते हैं। (१५)

स्वतः प्रकाश आत्मा में श्रुति का उपयोग

श्रुति भी स्वप्रकाश आत्मा के प्रमाणगम्य अप्रमेय निर्वचन द्वारा प्रमाणों का बाध करती हुई अज्ञानारोपित विशेष भाग स्थूल शरीर आदि के बाध में ही समाप्त हो जाती है, आत्मा को प्रकाशित नहीं करती। इस आवरण के बाध के पश्चात् वह स्वयं पूर्ववत् (अज्ञान काल में भी वह जैसे था) अपने निर्विशेष रूप में अनुभूति स्वरूप से प्रकाशित होने लगता है।

प्रमाणों का अस्तित्व तथा ज्ञान स्वप्रकाश आत्मा के अधीन हैं

प्रमाण तो स्वयं प्रकाशहीन हैं। ये चेतन प्रकाश से प्रकाश को प्राप्त करके ही अन्य जड़ पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं और आत्मा के सम्मुख होते ही ऐसे भस्म हो जाते हैं जैसे पतंगा अग्नि के सम्मुख होते ही भस्म हो जाता है। उनका अपना बाध हो जाता है। वे अपना प्रमाणत्व, अस्तित्व ही खो बैठते हैं। वे आत्मा को भला कैसे प्रकाशित कर सकते हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के सहित जब तक श्रुति का भी बाध नहीं हो जाता, तब तक अखण्ड, चिन्मात्र आत्मानुभूति नहीं होती। अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि व्यवहार शून्य आत्मतत्व का प्रकाश प्रमाणों के अभाव में ही तो होता है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से शुद्ध अनुभूति होगी।

जब सब प्रमाणों का बाध हो जाता है तो आत्मा को औपनिषद् (उपनिषद् मात्रगम्य) तत्त्व कैसे कहा जा सकता है

इस सम्बन्ध में श्रुति की अन्य प्रमाणों से विशेषता है। श्रुति को ही अपने बाध की सामर्थ्य है। अन्य प्रमाणों में कहीं अपने आप के प्रमाणतत्व का नितान्त बाध नहीं देखा जाता। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अपने प्रमाणत्व को स्थित रखते हुए ही अपने विषय का प्रकाश करते हैं। अपने अस्तित्व को खो कर वे अपने विषय रूपादि का प्रकाश नहीं कर सकते। हम एक पदार्थ को चक्षु से देख रहे हैं; ज़रा चक्षु को बन्द किया कि उसी समय उस

पदार्थ के रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रहता, पूर्व रूप की स्मृति चाहे हो। परन्तु आत्मानुभूति तो बुद्धि पर्यन्त इन सब प्रमाणों के निरोध से ही हो सकती है। अतः इस आत्म तत्त्व को किसी प्रमाण का विषय कैसे कह सकते हैं। अखण्ड चिन्मात्र आत्म तत्त्व का ज्ञान किसी प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता। श्रुति भी अन्य अनात्मारोप के साथ-साथ अपने-आप का बाध करके ही कृत्य-कृत्य हो जाती है। सर्वसाधारण जन अनुभूति-सिद्ध, अखण्ड-चिन्मात्र-विषयक अज्ञान की दशा में यदि आत्मज्ञान-विषयक प्रमाण की कोई चर्चा हो सकती है तो श्रुति ही इस विषय में एक मात्र प्रमाण है। श्रुति के बिना इस निराकार, अखण्ड, चिन्मात्र आत्मा का बोध कदापि नहीं हो सकता। परम सत्य तो यह है कि अखण्ड, चिन्मात्र तत्त्व के स्वीकृत हो जाने पर प्रमाण का अस्तित्व ही कहां रह जाता है। तब प्रमाण तो है ही नहीं; फिर प्रमाण-गम्यता का अवकाश ही कहां है। सच तो यह है कि यदि यह अखण्ड, चिन्मात्र तत्त्व न होता तो आत्मा का अथवा अन्य किसी अनात्म तथा अचेतन पदार्थ का ज्ञान ही न हो सकता। आत्मा से भिन्न प्रमाण तथा प्रमेय के अस्तित्व तथा ज्ञान का कारण तो आत्मा ही है; यद्यपि अज्ञानावृत्त आत्मा ही कारण हो सकता है। आत्मा के अज्ञानावृत्त होने पर ही घट, पट, जीव, ईश्वर आदि जड़-चेतन पदार्थों का अस्तित्व है। तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण-जन्यवृत्ति आरूढ़ आत्म-चेतन द्वारा ही इनका प्रकाश होता है और श्रुति द्वारा अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर आत्मा स्वयं अनुभूति मात्र रूप से प्रकाशित होता है। तब सब अनात्म, जड़, चेतन जगत् का नितान्त अभाव हो जाता है। अर्थात् आत्मा की आवृत्ति दशा में—आत्मा के अज्ञानविशिष्ट चेतन

रूप दशा में—ही संसार का अस्तित्व तथा प्रकाश है। आत्म चिन्मात्र अनुभूति की दशा में संसार का अस्तित्व ही नहीं, फिर उसके ज्ञान का तो अवकाश ही कहां है।

(ख) श्रुति तथा गुरु का परस्पर सन्बन्ध

श्रुति प्रमाण तथा गुरु सहकारी साधन

श्रुति तथा गुरु इन दोनों में श्रुति मुख्य है—प्रमाण है और गुरु सहकारी है। ईश्वर का उपदेश वाक्य श्रुति है। ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है, अन्य सब को गुरु का सहारा लेना पड़ता है। अन्ततः ईश्वर गुरु द्वारा श्रुति रूपी उपदेश की आवश्यकता पड़ती है। अनादि गुरु ईश्वर को गुरु की आवश्यकता नहीं। अन्य सब को गुरु अथवा उपदेश की आवश्यकता है। ईश्वर से भिन्न जो भी गुरु है उस को साक्षात् अथवा परम्परा से श्रुति उपदेश की आवश्यकता है। इस दृष्टि से श्रुति—ईश्वरोपदेश--ही मुख्य प्रधान ठहरती है और गुरु गौण तथा अप्रधान। क्योंकि ईश्वर तथा श्रुति को मानव गुरु की आवश्यकता नहीं। मानव गुरु को श्रुति की साक्षात् अथवा परम्परा से आवश्यकता है।

श्रुति तथा गुरु का समुच्चय उपयोग

मुख्य साधन श्रुति—शास्त्र--का त्याग ठीक नहीं। श्रुति का गुरु पर भी अंकुश है। विचारवान् गुरु कभी अपने श्रुति रूपी गुरु का त्याग अथवा अनादर नहीं कर सकता। केवल गुरु के आधार पर श्रुति का, जोकि मुख्य असाधारण कारण अर्थात् करण या प्रमाण है, त्याग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सहकारी साधन गुरु का भी त्याग नहीं हो सकता। रूप के

ज्ञान के लिए चक्षु प्रधान तथा मुख्य प्रमाण या साधन है, परन्तु सहकारी साधन प्रकाश का यदि अभाव हो तो चक्षु के होते हुए भी मनुष्य को रूप का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, और वह अंधे के समान ही है। ऐसे ही श्रुति रूपी मुख्य प्रमाण भी विना सहकारी गुरु के नितान्त निरर्थक है। विना गुरु की सहायता के श्रुति में अनन्त श्रम से भी परम तत्त्व विषयक यथार्थ ज्ञान की कदापि उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः, परम तत्त्व विषयक श्रुति रूपी अलौकिक तथा एक मात्र प्रमाण तथा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु रूपी सहकारी साधन के यथार्थ महत्त्व को समझ कर, पूर्ण श्रद्धा से उनका यथोचित उपयोग करके ही परम तत्त्व के साक्षात्कार द्वारा परमानन्द रूप लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। जो अज्ञानी है उसे ज्ञान के लिए उपदेश की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

श्रुति तथा गुरु-उपदेश के विना साधारण योग्यता मात्र से काम नहीं चल सकता

योग्यता तो मनुष्य में होनी ही चाहिए। क्योंकि मूल योग्यता के विना अन्य साधन सफल नहीं हो सकते। परन्तु साधारण योग्यता होने पर भी विना उपदेश के साधारण लौकिक स्थूल विषय का ज्ञान होना भी प्रायः असम्भव होता है। इस लिए साधारण प्राकृत मनुष्य विना उपदेश के उस अलौकिक परम तत्त्व का ज्ञान केवल अपने प्रयत्न से कैसे प्राप्त कर सकता है। बीज रूपी मूल योग्यता चाहे उस में हो परन्तु बिना सहकारी साधनों के उस योग्यता रूपी बीज का विकास तो क्या हो सकता है, वह बीज दग्ध तथा, निष्फल हो जाता है।

शरीर के क्षेत्र में भी यही बात देखने में आती है। किसी प्राणी का बच्चा कितना ही हृष्ट-पुष्ट, नीरोग क्यों न हो और उसमें विकास की कितनी ही आश्चर्यजनक योग्यता तथा संभावना क्यों न हो, परन्तु यदि उसे सहकारी साधन आहार, व्यवहार, रक्षा आदि न मिले तो उसका विकास नहीं होता और वह शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बन सकता है। सामान्यतः विकास का होना या विकास की योग्यता का होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि यदि बच्चे में बढ़ने की सामर्थ्य ही न होती, तो केवल आहारादि साधनों से उसकी वृद्धि न हो सकती, जैसे प्रौढ़ अवस्था के उपरान्त देखने में आता है। परन्तु इस स्वाभाविक विकास की सामर्थ्य के होते हुए भी सहकारी साधनों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। भौतिक तथा शारीरिक क्षेत्रों का यह नियम अन्य सब क्षेत्रों में भी समान रूप से लागू होता है। सामान्य लौकिक शिक्षा तथा आध्यात्मिक शिक्षा अर्थात् धर्म तथा परम तत्त्व विषयक ज्ञान के लिए भी योग्यता के होते हुए भी निर्भ्रान्त ईश्वरीय उपदेश श्रुति तथा गुरु रूपी सहकारी साधनों की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

दृष्टान्त-माता-पिता। दार्ष्टान्त श्रुति माता, गुरु-पिता

जैसे माता पिता अथवा मातृ-पितृ शक्ति के संयोग के बिना किसी देहधारी की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह मातृ-पितृ शक्ति भिन्न-भिन्न शरीरों में हो, एक शरीर में हो अथवा भौतिक पदार्थों में अज्ञात रूप से बिखरी हुई पड़ी हो, (जैसे जोंकों की दशा में होती है) परन्तु किसी न किसी रूप में मातृ-पितृ-शक्ति का संयोग होना आवश्यक है। ऐसे ही अध्यात्म

शिशु की उत्पत्ति तथा विकास के लिए श्रुति रूपी माता तथा गुरु रूपी पिता की आवश्यकता है। इन दोनों के उचित मात्रा में सहयोग से अध्यात्म शिशु की वृद्धि तथा विकास हो सकता है। अतः इनके यथार्थ स्वरूप, महत्त्व तथा प्रयोग की विधि को जानते हुए श्रद्धापूर्वक इन के पूर्ण सदुपोग से ही परम तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं।

प्रश्न—प्रह्लाद आदि ने कौन से शास्त्र पढ़े थे ? हम भी शास्त्र बना सकते हैं।

उत्तर—प्रह्लाद आदि महान् व्यक्तियों ने शास्त्रादि की सहायता के विना परम लक्ष्य की प्राप्ति में जो सफलता प्राप्त की, यह प्रकट करता है कि उन्हों ने पूर्व जन्मों में शास्त्र आदि की सहायता द्वारा इतनी योग्यता प्राप्त कर ली थी कि उनको इस जन्म में इन के विना भी शीघ्र सफलता हो गई। इस लिए अपने तथा अन्य साधकों के हित की दृष्टि से इस भूल भुलैयां में दिल बहलाना छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।

(ग) श्रुति तथा गुरु की अनिवार्य आवश्यकता

भौतिक विज्ञानवाद तथा तदवलम्बित शास्त्र

देह से भिन्न आत्मा की दुर्विज्ञेयता

सामान्य देहात्मवादी तथा अखण्ड चिन्मात्र आत्मवादी में महान् अन्तर है। सर्व साधारण जन को देहात्मवाद ही यथार्थ भासता है। केवल शास्त्र, गुरु तथा सन्तों में श्रद्धा के आधार पर ही प्रायः मनुष्य को देह से भिन्न अन्य किसी तत्त्व में आत्म दृष्टि हो सकती है। और जिनको विशेष लगन हो वे यदि शास्त्रानुसार भरसक यत्न करें तो उन में

से भी कोई ही इस अखण्ड आत्मतत्त्व को तथा तद्भिन्न देहातिरिक्त किसी अन्य तत्त्व को आत्मरूप से अनुभव कर पाता है। तभी उसे इस तत्त्व का यथार्थ बोध होता है कि इस जगत् से भिन्न तथा देहादि की नियामक कोई और सत्ता भी है। शास्त्र पर श्रद्धा रख कर श्रद्धासहित शास्त्रोक्त साधन करने से ही यह अनुभूति हो सकती है। इस प्रकार इस अनुभूति का आधार भी शास्त्र और गुरु ही होते हैं। अतः देहभिन्न आत्मानुभूति शास्त्र तथा गुरु की सहायता के बिना नहीं हो सकती।

प्रश्न—लौकिक उच्च शिक्षा से संस्कृत बुद्धि के लिए कोई तत्त्व भी दुर्विज्ञेय नहीं।

उत्तर—उपर्युक्त विषय में वर्तमान विज्ञान की प्रायः नास्तिक धारणा ही प्रमाण है। आजकल का जगत्, जिसे अपने वैज्ञानिक आविष्कारों का अभिमान निर्मूल नहीं है, देह से भिन्न आत्मवाद में विश्वास ही नहीं रखता। वह देह को ही अपना आत्मा मानता है और केवल भौतिक जगत् की सत्ता में ही विश्वास रखता है। इस का कारण श्रुति तथा गुरु में श्रद्धा का अभाव है। क्योंकि भौतिक वैज्ञानिक साधनों से तो भौतिक ज्ञान ही हो सकता है, जैसे चक्षु से रूप का। यदि कोई चक्षु को फोड़ दे अथवा बंद कर दे और कहे कि जगत् में रूप का अभाव है; जैसी उसकी दशा होती है; वैसी ही इन भौतिक विज्ञानवादियों की दशा है। क्योंकि देह से भिन्न आत्मा के ज्ञान के लिए प्रमाण श्रुति, गुरु तथा अनुभवी महात्मा हैं; जब प्रमाण को ही त्याग दिया, तो बिना प्रमाण के आत्म-ज्ञान कैसे हो सकता है? परन्तु

ये वैज्ञानिक लौकिक ज्ञानविषयक अभिमान के कारण अपनी इस महती भूल को पकड़ नहीं सकते और गर्व से यह कहते हैं कि देह से भिन्न आत्मा तथा ईश्वर नहीं है; क्योंकि उन्होंने इतनी खोज की है और इतने वैज्ञानिक यंत्रों का आविष्कार किया है; परन्तु इस ईश्वर वा आत्मा को कहीं देख नहीं पाए हैं।

प्रश्न—नास्तिकता का कारण इन तत्त्वों का अभाव है। इसके साथ ही प्रसिद्ध वैज्ञानिक आत्मा तथा ईश्वर में विश्वास नहीं करते इस लिए ईश्वर तथा आत्मा नहीं हैं।

उत्तर—ऐसा कथन करने वाले वैज्ञानिकों के अनुयायी यह नहीं सोचते कि वैज्ञानिक साधनों में आत्मा को देख सकने की योग्यता भी है या नहीं। वैज्ञानिक साधन भौतिक क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकते और न ही इस क्षेत्र से बाहर के तत्त्वों का ज्ञान करा सकते हैं। ये साधन हमारे उन्हीं प्राकृत करणों अर्थात् चक्षु आदि का उपयोग करते हैं जिन के द्वारा साधारण जन स्थूल भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिक साधनों से चक्षु आदि करणों की शक्ति तो बढ़ जाती है; किन्तु उन का कार्यक्षेत्र सर्वथा परिवर्तित नहीं हो जाता; उसी प्रकार के कार्यक्षेत्र में कुछ वृद्धि अवश्य हो जाती है। जैसे चक्षु से रूप का ग्रहण होता है, परन्तु साधारण चक्षु से विशेष सूक्ष्म अथवा दूरस्थ पदार्थों का। जैसे जल के अत्यन्त सूक्ष्म तथा रुधिर के सूक्ष्म अणुओं अथवा बहुत दूर के पेड़, पक्षी तथा तारागणों का ज्ञान नहीं होता; परन्तु वैज्ञानिक उपकरणों—दूर तथा सूक्ष्म वीक्षण यन्त्रों—द्वारा हम केवल चक्षुमात्र से न दीख सकने वाले इन

पदार्थों को देख सकते हैं। इस से यह निश्चय होता है कि—

(१) ये यन्त्र हमारे चक्षु आदि भौतिक करणों की सहायता से ही कार्य करते हैं।

(२) और जिन रूपादि भौतिक पदार्थों का ज्ञान साधारणतया मनुष्य को होता है, उनका ही ज्ञान इन साधनों द्वारा होता है। चक्षु की सहायता के बिना सूक्ष्म वीक्षण यंत्र किसी काम का नहीं। और चक्षु की सहायता होने पर भी ये यंत्र चक्षु-ग्राह्यरूप के बोध का ही साधन होते हैं, अन्य शब्दादि का नहीं। इन वैज्ञानिक साधनों से इन भौतिक पदार्थों का ही ज्ञान हो सकता है, इस से भिन्न क्षेत्र में इनका प्रवेश नहीं। अतः वैज्ञानिक साधन हमें भौतिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य किसी क्षेत्र में सहायक नहीं हो सकते। जैसे चक्षु रूप से अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं रखता। चक्षु के आधार पर यदि शब्द का निषेध किया जाए तो वह कितनी विचार-शून्यता होगी इसे हम सब समझते हैं। यदि कोई अंधा कहे कि संसार में रूप का अभाव है, क्योंकि कर्णादि सब साधनों के होते हुए भी उसे रूप का ज्ञान नहीं होता तो ऐसे कथन के कारण वह पुरुष हास्यास्पद ही होता है और पागल तथा बुद्धि-हीन समझा जाता है। वह अपने इस कथन से जगत् में रूप के अभाव को तो नहीं सिद्ध कर सकता; अपने पागलपन तथा बुद्धि-हीनता को सिद्ध कर देता है। और उसके विषय में यही कहा जाता है कि वह केवल चक्षुहीन ही नहीं बुद्धिहीन भी है। भौतिक विज्ञानवादियों का यह कथन भी, कि

आत्मा तथा परमात्मा अथवा परलोक, क्योंकि उन के वैज्ञानिक यंत्रों से कहीं उपलब्ध नहीं होते इस लिए वे कहीं है ही नहीं, उपर्युक्त अन्धे व्यक्ति के कथन के समान ही है; और विज्ञान के कार्यक्षेत्र तथा सामर्थ्य से इनकी अत्यन्त अनभिज्ञता का सूचक है।

प्रश्न—विज्ञानवादी बहुत चतुर, सूक्ष्म-बुद्धि-सम्पन्न, सत्य-प्रेमी पण्डित हैं उन की इस स्पष्ट भूल का क्या कारण है।

उत्तर—विज्ञान के वर्तमान विस्मयकारी अन्वेषणों के कारण, हम इस की सामर्थ्य को अनन्त समझने लग गये हैं। हमारे विचारों पर इस का इतना प्रभुत्व है कि हम एक निश्चित सीमा में ही सोच सकते हैं; हमें विज्ञान के विकास में अनुचित अभिमान हो गया है, जिस ने हमें भौतिक क्षेत्र से भिन्न किसी तत्त्व तथा उस के साधनों के ज्ञान तथा विश्वास के अयोग्य बना दिया है। यद्यपि यह अविश्वास उस अंधे के समान ही है जो अपनी आंखों के अभाव में रूप के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करता। यह भ्रान्ति तो इतनी स्पष्ट तथा असंदिग्ध है कि इसे साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है, परन्तु विज्ञान के विकास से पथराई हुई बुद्धि इस हास्यास्पद भूल को समझ सकने में असमर्थ हो गई है। वैज्ञानिक क्षेत्र के बड़े २ दक्ष और जगत्प्रसिद्ध विद्वान् भी प्रायः इस भूल में पड़े हुए हैं, और अपने भौतिक साधनों द्वारा आत्मा-परमात्मा को कहीं न पा कर इन में अविश्वास कर रहे हैं तथा जीव, ईश्वर, परलोक आदि के अस्तित्व को ही नहीं मानते और ऐसा कहते हैं कि यह सब असभ्य, अशिक्षित जातियों तथा मनुष्यों

की अशिक्षित तथा भ्रमित बुद्धियों की उपज हैं। सभ्यता के दृष्टिकोण से उन जातियों ने उन्नति नहीं की थी। जैसे बालक पत्ते के हिलने में भूत की कल्पना करके भयभीत होने लगता है; वैसे ही ये कल्पनाएं हैं। अपने क्षेत्र में इतने प्रवीण तथा चतुर मनुष्य भी जब इस भ्रान्ति में पड़े हुए हैं, तो फिर साधारण शिक्षावाले उन के अनुयायियों की तो बात ही क्या है।

अपने विषय में बुद्धि की दक्षता के कारण ही वे इस भूल को नहीं समझ सकते; क्योंकि उन्हें अपनी बुद्धि पर अभिमान होता है। चाहे विज्ञान का क्रियात्मिक विभाग हो अथवा सामान्य विज्ञान से निर्धारित भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित संसार की पहेली को सुलझाने वाला वैज्ञानिक दर्शन का विभाग हो, इन विभागों के पण्डित अत्यन्त सूक्ष्म, गंभीर, रहस्यमय ऊहापोह करने की सामर्थ्य रखते हैं। और वे इस सामर्थ्य के आधार पर ऐसा अभिमान करते हैं कि ऐसी कौन सी बात है जिसे वे नहीं समझ सकते। परन्तु जो लोग आत्मा-परमात्मा में विश्वास रखते हैं, तथा ईश्वरप्रदत्त अथवा ऋषि-मुनि-प्रणीत इस विषय के जो शास्त्र हैं, वे सब एक स्वर से कहते हैं कि आत्मा-परमात्मा भौतिक—लौकिक—पदार्थों से अत्यन्त भिन्न हैं। इस लिए इन सामान्य लौकिक ज्ञान के साधनों—प्रमाणों से इन की अनुभूति नहीं हो सकती। ऐसा होते हुए यह कितनी शोचनीय भूल है कि जो वैज्ञानिक यंत्र आदि इन लौकिक करणों के आधार पर ही काम करते हैं और लौकिक करणों की सहायता करना मात्र जिन का काम है;

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; हम उन्हीं करणों और साधनों से अलौकिक तथा अभौतिक तत्त्वों के अन्वेषण में प्रवृत्त होते हैं; तथा असफल हो जाने पर इन के अस्तित्व से ही इनकार कर देते हैं।

वैज्ञानिकों के लिए उचित धारणा

यदि हम उपर्युक्त साधारण कथन को ही दृष्टि में रखते तो ऐसी भूल न करते और सब संसार को पशुत्व, अधर्म, अज्ञान और नास्तिकता के अत्यन्त दुःखप्रद नरक में न फैंक देते, आत्मा-परमात्मा में अविश्वास की घोषणा न करते और केवल विज्ञान के बल पर इन अलौकिक तत्त्वों के खण्डन करने का दुःसाहस न करते। वे केवल इतना कह सकते थे कि इन भौतिक वैज्ञानिक साधनों के आधार पर इन अलौकिक तत्त्वों के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता और ये साधन उनके होने अथवा न होने का निश्चय करने में कुछ सहायता नहीं कर सकते। इनके आधार पर उन तत्त्वों को सिद्ध नहीं किया जा सकता तो असिद्ध करना भी कठिन है। अधिक ठीक तो यह था कि वे लोग अपने तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों को और इनके साधनों, सिद्धान्तों तथा लक्ष्यों को भिन्न भिन्न समझते और इस बात की घोषणा करते कि यह अध्यात्म-क्षेत्र विज्ञान का क्षेत्र नहीं है और विज्ञान को इस में प्रवेश करने का सामर्थ्य भी नहीं है।

विज्ञान का विचार-शून्य निर्णय

परन्तु वे लोग इस भौतिक भेद को कुछ महत्त्व नहीं देते तथा विचार अनुभव और तर्क के विरुद्ध विज्ञान की अनन्त

सामर्थ्य के अभिमान से अध्यात्म तत्त्वों तथा इन तत्त्वों की अनुभूति के योग-शास्त्र आदि साधनों को अज्ञान, भ्रांति तथा कल्पना का नाम दे कर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

अध्यात्मवाद का आधार—श्रुति, युक्ति, अनुभूति (श्रवण, मनन, निदिध्यासन)

जैसे भौतिक क्षेत्र, उसके सिद्धान्त तथा उस क्षेत्र में कार्य करने के साधन हैं और जैसे भौतिक विज्ञान का विशाल भवन एक महान् अन्वेषण से निर्धारित अनुभव की नींव पर स्थित है, ऐसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र के विज्ञों का कहना है कि आध्यात्मिक तत्त्व भी कल्पनामात्र नहीं, यह भी एक अनुभवानुमोदित महान् विज्ञान है। इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए तथा इस के सिद्धान्तों की अनुभूति आदि के लिए भी उपयुक्त करण हैं जो अध्यात्मशास्त्र, अनुभवी गुरु तथा अन्य महान् सन्तों में श्रद्धा आदि से तथा उनके प्रसाद से प्राप्त होते हैं अर्थात् गुरूपदिष्ट शास्त्र ही इस विषय में प्रमाण है।

अपने वैज्ञानिक क्षेत्र में महान् अक्षुण्ण श्रद्धा का उपयोग तथा अध्यात्म क्षेत्र में इस का अनुचित तिरस्कार

वर्तमान विज्ञान के नेता तथा उन के अनुयायी इन सब को भ्रांति तथा कल्पना समझते और झूठा बताते हैं। वे लोग गुरु तथा शास्त्र में विश्वास की शिक्षा को मानवीय बुद्धि का निरादर करना समझते हैं और उनका यह दावा

है कि स्वतंत्र मनुष्य अपनी सामर्थ्य से क्या कुछ नहीं कर सकता। परन्तु ऐसा कहते हुए वे यह भूल जाते हैं कि वैज्ञानिक क्षेत्र में भी तो शास्त्र (text book) तथा अध्यापक, गुरु की आवश्यकता होती है। इन के विना किस मनुष्य का बालक केवल अपने प्रयत्न से वैज्ञानिक क्षेत्र में उचित उन्नति कर सकता है? मनुष्य एक देश पर ही निर्भर न रह कर देश-देशान्तर में जहां कहीं भी उस विषय के अधिक प्रसिद्ध अध्यापक होते हैं, वहां जा कर उनकी शरण में बैठ कर, शिक्षा प्राप्त करके अपने आप को धन्य मानते हैं। यदि स्थूल, बाह्य, भौतिक क्षेत्र में शास्त्र तथा गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है, तो अत्यन्त सूक्ष्म, आभ्यन्तर, अलौकिक, सामान्य-करण-अग्राह्य, अध्यात्म-क्षेत्र में तो इनकी और भी अधिक आवश्यकता है।

यहां पर विज्ञान से भ्रांत बुद्धि वाले विद्वान् तथा उनके अनुयायी ऐसा आक्षेप करते हैं कि शास्त्र तथा गुरु शिक्षा के लिए हैं। उन की सहायता से वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनुभव किया तथा कराया जा सकता है। केवल विश्वास मात्र को विज्ञान ठीक नहीं समझता। यह बात ठीक है; परन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं जो भिन्न भिन्न विज्ञानों के क्षेत्रों में स्वयं अनुभूति करके ही उन सब विज्ञानों के सिद्धान्तों को मानते हैं अथवा उपयोग में लाते हैं। साधारण व्यक्ति की तो बात ही छोड़ दीजिए, भिन्न भिन्न विज्ञानों में दक्ष प्रसिद्ध किसी एक विद्वान् के लिए भी ऐसा कर सकना असंभव है, वह भी अन्य विज्ञानों के सिद्धान्तों पर विश्वास करके ही उनका उपयोग करता है। यदि कोई वैज्ञानिक यह तुलना

करे कि वैज्ञानिक क्षेत्र में उसके अपने अनुभूत ज्ञान तथा विश्वास पर आश्रित ज्ञान में कितना अन्तर है तो वह इस को मापने तथा किसी संख्या द्वारा निर्णीत करने में असमर्थ होगा। विश्वास पर अवलम्बित ज्ञान अनुभूत ज्ञान की अपेक्षा अनन्त होता है। यहां तक के आज तक के प्राप्त संपूर्ण विज्ञान के सिद्धान्त में उसका विश्वास होता है, अर्थात् उसका विज्ञान मात्र में विश्वास है, चाहे वह उसे जानता भी न हो। विज्ञान के क्षेत्र में इनका इतना अनन्त विश्वास है। श्रद्धा के बिना इनका भी निर्वाह नहीं हो सकता। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में जब गुरु और शास्त्र में श्रद्धा तथा विश्वास की बात चलती है, तो ये झट नाक सिकोड़ लेते हैं, और इसे भ्रांति कह देते हैं। जिन्हें तीव्र इच्छा हो, वे शास्त्र तथा गुरुनिर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके योग्यतानुसार आध्यात्मिक तत्त्वों का अनुभव कर सकते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में भी पहले-पहल श्रद्धा तथा विश्वास से ही खोज आरंभ करनी होती है तभी कुछ सफलता होती है, तब इस आध्यात्मिक क्षेत्र में बिना उपयुक्त उपायों को अवलम्बन किये केवल वैज्ञानिक ज्ञान के बल बूते पर इन तत्त्वों से इनकार कर देना युक्तिसंगत, अनुभव-अनुमोदित तथा लाभकारी नहीं। यदि अंधा केवल इस लिए कि उसे रूप का तथा चक्षु का अनुभव नहीं होता, रूप तथा चक्षु दोनों से इनकार कर दे, तो यह उसकी कितनी भूल होगी। क्योंकि रूप का आधार तो चक्षु है, जो उस के पास नहीं है। ऐसे ही आध्यात्मिक तत्त्वों का आधार गुरु तथा शास्त्र

का उपदेश और उन के आधार पर विकसित बुद्धि है। इस लिए जब गुरु और शास्त्र में ही अविश्वास कर लिया गया, तो इन तत्त्वों में अविश्वास और इन से इनकार करना स्वाभाविक हो जाता है। विज्ञान का इस प्रकार का आचरण अर्थात् आध्यात्मिक तत्त्वों में अविश्वास रूपी दृष्टि महती शोचनीय भूल तथा भ्रांति है।

यदि कोई इन से पूछे कि वे इस प्रकार आध्यात्मिक तत्त्वों के अस्तित्व में संदेहशील क्यों हैं, तो उसका झट यही उत्तर मिलता है कि विज्ञान इनका समर्थन नहीं करता। इसके उत्तर में यदि कोई कहे कि विज्ञान के साधनों से ही सम्पन्न और वैज्ञानिक क्षेत्रमात्र में दक्ष बुद्धि तथा मन आध्यात्मिक विषयों में प्रमाण नहीं हो सकते, इस विषय में तो शास्त्र, गुरु और अनुभवी सन्त ही प्रमाण हैं, तो झट शास्त्र, गुरु तथा सन्तों में अविश्वास कर दिया जाता है। अब ऐसी हीन बुद्धि का क्या किया जाए। यदि किसी को रूप में अविश्वास हो और उसे कहा जाए कि रूप के प्रत्यक्ष के लिए चक्षु का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि वही रूप के ज्ञान के लिए एक मात्र साधन है। इस कथन पर यदि वह व्यक्ति चक्षु में ही अविश्वास प्रकट करे और चक्षु के प्रयोग करने से पूर्ण उपेक्षा कर दे तो ऐसी बुद्धि की कैसे सराहना की जा सकती है? कौन सा ऐसा सिद्धान्त हो सकता है जिस में इस प्रकार अविश्वास नहीं किया जा सकता। जब कि उस सिद्धान्त को सिद्ध करने वाले प्रमाण को ही हठधर्मी से ठुकरा देना हो तो वह सिद्धान्त प्रमाणित ही कैसे हो सकता है?

वैज्ञानिकों से नम्र निवेदन

इसलिए वैज्ञानिकों से नम्र निवेदन है कि आध्यात्मिक क्षेत्र के तत्त्वों तथा सिद्धान्तों को विज्ञान के बलबूते पर ठुकरा देना उनके लिए उचित नहीं है। शास्त्र तथा गुरु ही इस क्षेत्र में उपयुक्त प्रमाण हैं। यदि केवल विज्ञान तथा सामान्य लौकिक बुद्धि से ही इन तत्त्वों का निर्णय हो सकता होता तो शास्त्र और गुरु की इतनी अनिवार्य आवश्यकता न होती। गुरु तथा शास्त्र की शिक्षा से परिमार्जित, संशोधित तथा सूक्ष्म हुई बुद्धि ही इस क्षेत्र में काम दे सकती है।

अध्यात्म तत्त्वों की अनुभूति, शास्त्र-निर्दिष्ट साधन का अनन्य श्रद्धा सहित अनुष्ठान तथा योग्यता

प्रश्न—यहां पर वैज्ञानिक एक प्रश्न कर सकते हैं कि इसमें संदेह नहीं कि विज्ञान के क्षेत्र में भी साधारणतया कुछ सीमा तक श्रद्धा से काम लिया जाता है; परन्तु अध्यात्म क्षेत्र का तो पूर्ण भार विश्वास तथा श्रद्धा के सिर ही पड़ता है; इसका क्या कारण है ? यह कल्पना नहीं तो और क्या है ? अतः इस अंध-परम्परा को स्वीकार कर सकना कठिन है।

उत्तर—जैसे भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में पहले-पहल शास्त्र तथा गुरु को प्रमाण मान कर, उनके प्रदर्शित साधन का अनुष्ठान करते हुए उनके निर्धारित विचारों तथा सिद्धान्तों की अनुभूति हो सकती है। और यदि कोई ऐसा न कर सके तो उसे उन पर श्रद्धा करके ही काम चलाना पड़ता है। अथवा हम यूँ भी कह सकते हैं कि भौतिक विज्ञान संबन्धी

सिद्धान्तों के लिए भी एकमात्र प्रमाण शास्त्र तथा गुरु ही हैं, क्योंकि अनुभूति भी उनकी शिक्षा से उन्नत हुई बुद्धि वाले को ही हो सकती है; प्राकृत, अशिक्षित बुद्धिवाले व्यक्ति को नहीं हो सकती। इसी प्रकार की स्थिति यदि आध्यात्मिक क्षेत्र में हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। इसमें संदेह नहीं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु तथा शास्त्र में अत्यन्त श्रद्धा की आवश्यकता है। क्योंकि इस विषय में एक मात्र शास्त्र ही प्रमाण है। भौतिक क्षेत्र में भी उसके गम्भीर रहस्यों को शिक्षा द्वारा ही समझा जा सकता है।

वैयक्तिक योग्यता

उपर्युक्त वैज्ञानिक अन्वेषण भी साधारण मनुष्य का काम नहीं। उसके लिए भी मस्तिष्क तथा बुद्धि की जन्म-सिद्ध विलक्षण प्रतिभा तथा योग्यता हो तभी शिक्षा फलीभूत होती है। दो मनुष्य एक ही गुरु से शिक्षा प्राप्त करके पूरा श्रम करके भी समान योग्यता को प्राप्त नहीं कर सकते। कई बार दोनों में आकाश पाताल का अन्तर हो जाता है। क्योंकि उनके मस्तिष्क तथा समझ में अन्तर होता है। इसलिए जहां शिक्षा तथा गुरु भी उपयोगी तथा अनिवार्य साधन हैं; वहां पर मनुष्य की अपनी योग्यता भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः किसी भी प्रकार के सिद्धान्तों या तत्त्वों का अनुभव करना हो तो उसके लिए मनुष्य की तदुपयोगी योग्यता का होना अनिवार्य है। सूक्ष्म वीक्षण यंत्र भी स्वतः कोई कार्य नहीं कर सकता।

उपसंहार

इसलिए उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि आध्यात्मिक--ईश्वर, जीव, धर्म, परलोक आदि तत्त्व प्रत्यक्ष अनुमान तथा तदवलम्बित भौतिक विज्ञानवाद की सामर्थ्य से परे हैं। ये तत्त्व कल्पना मात्र नहीं हैं। इनका भी एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक विज्ञान है, जिस का आधार शास्त्र, अनुभवी महात्मा, उनका प्रदर्शित मार्ग तथा उपयुक्त योग्यता (अधिकार) हैं। इतना सब होने पर भी संपूर्ण महान् अध्यात्म शास्त्रों के अनन्त सिद्धान्त तथा साधनों के विषय में अपनी अल्प सामर्थ्य तथा काल के कारण केवल स्वानुभूति के बल-बूते पर निर्णय नहीं कियाँ जा सकता। भौतिक विज्ञान के किसी क्षुद्र विभाग में ऐसा करना संभव नहीं है। इसलिए अगाध अध्यात्म क्षेत्र में भी वैज्ञानिक क्षेत्र के समान ही विज्ञ, चतुर पण्डितों तथा अनुभवियों को भी अक्षुण्ण श्रद्धा से काम लेना पड़ता है। साधारण श्रद्धा से उत्पन्न होने वाली कुछ अनुभूति परिणामतः उन में अविचलित श्रद्धा को उत्पन्न कर देती है। साधारण मनुष्यों को तो, जिन के पास न समय है और न सामर्थ्य, श्रद्धा के द्वारा ही अपने चरित्र आदि का निर्माण करना पड़ता है।

आत्मदर्शन में श्रवण का महत्त्व

उपर्युक्त मैत्रेय ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्म-दर्शन के लिए निम्नलिखित निर्देश किया है :—

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।

इसमें तीन साधनों का निर्देश किया गया है—श्रवण, मनन

तथा निदिध्यासन। साधारणतया इन तीनों साधनों का उपयोग अनिवार्य होता है। परन्तु जैसे पहिले श्रुति के सामर्थ्य, क्षेत्र आदि का विवेचन करते हुए यह निर्धारित किया गया है कि आत्मतत्व के विषय में श्रुति ही परम-प्रमाण है। इस लिए प्रमाण की दृष्टि से श्रवण की ही प्रधानता है। यद्यपि यह तथ्य है कि साधारणतया श्रवण, मनन और निदिध्यासन के उचित सहयोग के विना साधक आत्म-दर्शन करने में सफल नहीं हो सकता। और जब बुद्धि की स्थूलता, बहिर्मुखता, अनात्म पदार्थों की लालसा आदि अनेक प्रतिबंध श्रवण के कृतकार्य होने में उपस्थित हों, तो किसी दृष्टि से मनन तथा निदिध्यासन का श्रवण से भी अधिक महत्त्व हो सकता है। जैसे भाष्यकार ने भी विवेक चूड़ामणि में कहा है—

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥ वि. चू. ३७५

"श्रवण से मनन सौगुणा अधिक है, मनन से निदिध्यासन लक्षगुणा अधिक और निर्विकल्प तो अनन्त गुणा ही है।"

परन्तु परम प्रमाण रूप से तो श्रुति का ही महत्त्व है—"नावेदवित् मनुते तद्बृहन्तम्" वेद को न जानने वाला उस ब्रह्म का मनन नहीं कर सकता, अर्थात् वेदरहित शुष्कतर्क से ब्रह्म का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। प्रमाण की दृष्टि से मनन श्रुति का अनुग्राहक-सेवक मात्र है। श्रुति क्योंकि निर्भ्रान्त ईश्वरीय ज्ञान है अतः मनन श्रुतिनिर्दिष्ट तत्व का खण्डन नहीं कर सकता। उस का तो केवल यह कार्य है कि

वह जिज्ञासु के श्रुति-प्रतिपादित तत्त्वविषयक संशयों को निवृत्त करके उसे उसके हृदयङ्गम करादे, और विरोधी तर्कों का खण्डन करके जिस किसी हेतु से श्रुति-प्रतिपादित तत्त्व को सिद्ध (प्रतिपादित) कर दे। यदि श्रुति और तर्क में विरोध हो जाए तो इस से श्रुति मिथ्या सिद्ध नहीं हो जाती अपि तु तर्क ही तब तर्काभास हो जाता है। हां! परम आस्तिक, अत्यन्त वैराग्यवान्, एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धि सम्पन्न, तीव्र जिज्ञासु को श्रवण मात्र से ही आत्मतत्त्व हृदयङ्गम हो जाता है; क्योंकि उपर्युक्त सद्गुणों के कारण ऐसे उत्तम जिज्ञासु की बुद्धि असत्य-अनात्म की उपेक्षा करती हुई शास्त्रोपदिष्ट आत्मतत्त्व में गड़ जाती है। यदि शास्त्र विरुद्ध कोई संशय आदि उत्पन्न हो भी जाएं तो तुरन्त उन को स्वयं काटती हुई परम सत्य को ही ग्रहण करती है। मनन आदि की आवश्यकता उस दशा में होती है जब कि यत्किञ्चित् मलिन मन तथा बुद्धि के कारण तत्त्वविरोधी संशय आदि साधक को शास्त्रोपदेश के तत्त्वण ग्रहण के अयोग्य बना देते हैं। इस लिए मनन तथा मनन के आधार तथा प्रयोजन रूप से श्रुति को आवश्यकता है। यही स्थिति निदिध्यासन की है। इस लिए मनन तथा निदिध्यासन का आधार श्रुति है; परम प्रमाण श्रुति मनन तथा निदिध्यासन की अनुगामिनी नहीं है प्रत्युत मनन तथा निदिध्यासन श्रुति के अनुगामी तथा अनुचर हैं। कई उपर्युक्त हेतुओं से श्रुतिनिर्देश के उपरान्त ही मनन तथा निदिध्यासन को अवकाश है। इस दृष्टि से इन साधनों में श्रुति की प्रथमता अथवा प्रधानता है। मैत्रेय ब्राह्मण के उपर्युक्त वाक्य में इन साधनों के निर्देश का क्रम

निर्मूल नहीं है। जैसे ऊपर दर्शाया गया है कि मन की मलिनता आदि के कारण श्रुति-निर्दिष्ट परमतत्त्व जब हृदयङ्गम नहीं होता तो इस प्रतिबंध की निवृत्ति के लिए मनन की आवश्यकता होती है। और ऐसे ही दोषों की निवृत्ति के लिए निदिध्यासन को अवकाश मिलता है। इस विवेचन का सार यही है कि इन तीनों साधनों में वेदोपनिषदादि का उपयुक्त लिंगों द्वारा परम तात्पर्य को निर्णय करना रूपी श्रवण ही मुख्य तथा अनिवार्य है। इस लिए मुख्य-साधन श्रवण का ही प्रतिपादन करते हैं।

आत्मानुभूति

(नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् के आधार पर)

नृसिंहतापिन्युपनिषद्

ओ३म् नमो भगवते लक्ष्मीनृसिंहाय ।

शांति पाठः

ओ३म् भद्रं कर्णोभिः शृणुयाम देवा, भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनुभिर्, व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेद्यः ।
स्वस्ति नः ताक्ष्र्योऽरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ।
ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

"हम देव (नृसिंहोपासक दिव्य गुणों से संपन्न हो कर) कर्णों से कल्याण (नृसिंहदेवताप्रतिपादकवेदान्तशास्त्र—उपनिषद् इष्टदेवता-प्राप्ति साधनरूप) श्रवण करें। हम (नारसिंह विद्या के श्रवण द्वारा यथाशास्त्र ध्यान यज्ञ) यजनशील (याज्ञिक) चक्षुओं से (सकल अथवा निष्कल नृसिंह के) भद्र रूप को देखें। हम (निर्मल दृढ़ श्रद्धा भावना से प्रणव सावित्र्यादि) अंग मन्त्रों तथा (यो ह वै नृसिंह इत्यादि) तनु मंत्रों से स्तुति करते हुए (इहलौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक आनन्द के भोगार्थ सामर्थ्य वाला, नीरोगता आदि गुणों से युक्त दीर्घ) देव (नृसिंह देवता के ध्यानोपयोगी) आयु (जीवन) को प्राप्त हों।

मन्दबुद्धि की निवृत्ति के लिए पुनः प्रार्थना करते हैं:— (त्रिलोकपति) इन्द्र (बड़ी कीर्ति वाला तथा वृहस्पति से विद्या श्रवण करने वाला) वृद्धश्रवा हमें स्वस्ति (अखण्डाकार वृत्तियुक्त मन) प्रदान करे। सर्वज्ञ पूषा (सूर्य) हमें स्वस्ति (निरवच्छिन्न नृसिंह-स्मरण) प्रदान करे। वृहस्पति अकुण्ठित गति (देवभक्त) गरुड़ हमारे मन को नृसिंह तत्त्व में एकतानता प्रदान करे। वृहस्पति हमारे चक्षु आदि संपूर्ण करणों को नृसिंह देवता की सेवा में लगा दे। पर और अपर दो प्रकार की नृसिंह देवता-संबन्धी विद्या के अनुष्ठान में हमारे आध्यात्मिक आदि त्रिविध ताप रूप विघ्न शमन हों।

माण्डूक्योपनिषद् का महत्त्व

मुक्तिकोपनिषद् में श्रीराम जी हनुमान् को तत्त्वविषयक उपदेश करते हैं:—

इयं कैवल्यमुक्तिस्तु केनोपायेन सिध्यति।
माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तथाप्यसिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ।
ज्ञानं लब्ध्वाचिरादेव मामकं धाम यास्यसि ॥२७॥
तथापि दृढ़ता नो चेत् विज्ञानस्याञ्जनासुत।
द्वात्रिंशाख्योपनिषदं समभ्यस्य निवर्तय ॥ २८ ॥
विदेहमुक्ताविच्छाचेदष्टोत्तरशतं पठ।

हनुमान्—यह कैवल्य मुक्ति किस उपाय से प्राप्त होती है।

श्रीराम—उत्तम मुमुक्षुजनों की मुक्ति के लिए केवल एक माण्डूक्योपनिषद् का श्रवण ही पर्याप्त है। ऐसा करने पर भी

यदि आत्मज्ञान न हो तो मुमुक्षु दश उपनिषदों—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय. तैत्तिरीय, छांदोग्य तथा बृहदारण्यक को श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से पढ़े। ऐसा करने से वह शीघ्र ही ज्ञान को प्राप्त कर मेरे परम धाम को प्राप्त करेगा। हे हनुमान्! यदि ऐसा करने पर भी आत्मा का विज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) न हो, तो बत्तीस उपनिषदों का अभ्यास करे। यदि विदेह मुक्ति की इच्छा हो तो एक सौ आठ उपनिषदों का श्रवण करे। इस का तात्पर्य यह है कि आत्मस्वरूप प्रतिपत्तिरूप कैवल्य मुक्ति के साधन ज्ञान का उपाय एक सौ आठ उपनिषदों का मनन है, और इन संपूर्ण उपनिषदों में भी माण्डूक्योपनिषद् श्रेष्ठ है। उत्तम अधिकारी के लिए इस एक उपनिषद् का अध्ययन ही पर्याप्त है। यह उपनिषदों का सार रूप सब से छोटा उपनिषद् है। इस में परमात्मा के यथार्थ तुर्य (नेति नेति) स्वरूप के ध्यान के लिए ओंकार द्वारा दो प्रमुख उपायों का वर्णन है—(१) ज्ञान मार्ग—विचारप्रधान अन्वय व्यतिरेक युक्ति से आत्मा के चार पादों का वर्णन है। (२) उपासना मार्ग—ओंकार की चार मात्राओं से आत्मा के चार पादों के ध्यान, जिस से मन क्रमशः एकाग्र तथा सूक्ष्म होता हुआ 'नेति नेति' आत्मा का साक्षात् करता है, का वर्णन है। इस उपनिषद् का महत्त्व इसी में है कि आत्मा के ज्ञान के लिए साधन रूप जिस ओंकार की महिमा का वर्णन अनेक उपनिषदों के भिन्न २ स्थलों पर आता है; जैसे (कठ २, १४ प्रश्न ५, कैवल्य १, १४, तैत्तिरीय १, ८, छांदोग्य २, २३, २-३, श्वेत. १, १३-१४; मुण्डक २, २, ६; योग १,२३; ३२)

और जिस परम तत्त्व का निरूपण अन्य अनेक सहकारी युक्तियों के सहित भिन्न भिन्न उपनिषदों में फैला हुआ है; उस परम तत्त्व के स्वरूप का विवेचन तथा ओंकार द्वारा केवल उपासना का निर्देश इस उपनिषद् में है।

नृसिंहतापिन्युपनिषद्र का महत्त्व

नृसिंहतापिन्युपनिषद् एक प्रकार से माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या है। पूर्व नृसिंहतापिन्युपनिषद् में मन की सम्यक् शुद्धि तथा एकाग्रता के लिए नृसिंह भगवान् की सगुणोपासना का, इस के अनुष्टुप् मंत्र के प्रत्येक पद के व्याख्यान ऋषि, छन्द देवता, अंग, शक्ति, बीज, महाचक्र आदि के सहित विस्तृत निरूपण है। और पूर्वोक्त सगुण उपासना से जिन का अन्तः करण शुद्ध हो चुका है; ऐसे उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारियों के लिए नेति नेति आत्मा के दर्शन के लिए उपयुक्त साधनों का निरूपण किया गया है।

१. उत्तम अधिकारी के लिए आत्मा के चार पादों का निरूपण है। इस उपनिषद् के वर्णन की माण्डूक्य उपनिषद् से यह विशेषता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूपी पूर्व के तीन आरोपितपादों के विलापन द्वारा जिन को अधिष्ठान रूप चतुर्थ – तुर्य—पाद का सम्यक् ज्ञान नहीं होता; उन को क्रमशः बोध कराने के लिए (क) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय रूप चारों पादों में से प्रत्येक के पुनः चार चार अवान्तर भेद किये गये हैं; जैसे जाग्रत के—जाग्रत-जाग्रत, जाग्रत-स्वप्न, जाग्रत-सुषुप्ति तथा जाग्रत-तुर्य इत्यादि। (ख) फिर इन में से पूर्वोक्त १५ विभागों से प्रत्येक के पुनः समष्टि, व्यष्टि तथा समष्टिव्यष्ट्यैकरूप से तीन तीन भेद किये गये हैं (ग) इस

प्रकार साधक की बुद्धि को क्रमशः सूक्ष्म किया गया है, तथा तुर्यजाग्रत और तुर्यस्वप्न के अन्तर्गत ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा और तुर्यसुषुप्ति के अन्तर्गत निरुद्ध चित्त के द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान के अनन्तर उस के निरुपाधिक नेति नेति स्वरूप का निरूपण किया गया है।

२. मध्यम अधिकारी के लिए ओंकार की मात्राओं द्वारा निर्गुणोपासना के लिए आत्मा के चार पादों के पुनः चार विभाग किये गये हैं; जिन के अनुसार ओंकार की अ, उ, म् तथा अर्ध मात्रा के वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति तथा परा भेद से प्रत्येक मात्रा के पुनः चार भेद किये गये हैं; जैसे अ के स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षिभेद।

३, कनिष्ठ अधिकारी के लिए नारसिंह अनुष्टुप् मंत्र के द्वारा तुरीय-तुरीय आत्मा की उपासना का विधान है।

इस प्रकार नृसिंहतापिन्युपनिषद् के माण्डूक्योपनिषद् का व्याख्यान रूप होने के कारण इस का महत्त्व माण्डूक्योपनिषद् से भी एक दृष्टि से अधिक हो जाता है। क्योंकि इस में, कहे गये कई ऐसे उन अर्थों का भी उल्लेख आ जाता है, जनके बिना कलियुग के जिज्ञासुओं को माण्डूक्योपनिषद् के संक्षिप्त निरूपण से नेति नेति से प्रतिपादित आत्मा का यथार्थ बोध सहसा नहीं होता। इसी दृष्टि से श्रवण प्रकरण में नृसिंहतापन्युपनिषद् के कतिपय विभागों का व्याख्यासहित उल्लेख किया जाता है।

प्रथम खण्ड

देवताओं की निर्विशेष ब्रह्मविषयक जिज्ञासा

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्। अणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्वेति ॥१॥

'देवताओं तथा प्रजापति की सम्वादरूप आख्यायिका विद्या की शिक्षा की विधि के लिए है अथवा विद्या की स्तुति के लिए है।"

संगति—विद्याक्रम (क) नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में नृसिंहाकार ब्रह्मविद्या का अनुष्टुप् छन्द के द्वारा वर्णन :—इस का फल ईषदन्तःकरण की शुद्धि है, जिस के द्वारा परब्रह्मविद्या (उपासना) में प्रवेश की योग्यता प्राप्त होती है। यहां प्रणव का अनुष्टुप् मन्त्र के अंगरूप से वर्णन है।

(ख) नृसिंहाकाररूप ब्रह्मविद्या (उपासना) का प्रधान प्रणव के द्वारा अनुष्ठान तथा इसका फल अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा साक्षात् तुरीया (अखण्ड आत्मा) विद्या।

(ग) तुरीयात्मविद्या—(क) भाग का निरूपण पूर्वतापिन्युपनिषद् में किया गया है (ख) तथा (ग) भाग का अब क्रमशः निरूपण होता है।

एक समय देवताओं ने जिनका अन्तःकरण पूर्वतापिन्युपनिषद् में वर्णित अनुष्टुप् मन्त्र* के द्वारा नृसिंह देवता की

---

* उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

उपासना से सर्वथा शुद्ध हो चुका था, आचार्य प्रजापति के चरणों में विधिवत् उपस्थित हो कर प्रार्थना की कि सूक्ष्म (आकाश तथा बुद्धि प्रत्यय से भी सूक्ष्म) (अनुष्टुप् कारणभूत) ओंकार रूप (तुर्यतुरीयात्मा) अथवा साक्षि परमात्मा का सुस्पष्ट उपदेश करें। भाव यह है कि (१) अनुष्टुप् की प्रधानता से जिस आत्मा का निरूपण हुआ है, अब ओ३म् की प्रधानता से तथा अनुष्टुप् की गौणता से निरूपण करें। (२) बुद्धि प्रत्यय के साक्षि तुर्यतुरीय आत्मा का निरूपण करें।

प्रजापति द्वारा ब्रह्मात्मा का उपदेश

तथेत्योमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव, सर्वं ह्येतद् ब्रह्माऽयमात्मा ब्रह्म ॥ २ ॥

प्रजापति उनके प्रश्न की स्वीकृति करते हुए व्याख्यान करते हैं:—(अनुष्टुप् मंत्रसहित) यह संपूर्ण पदार्थ रूप विकारात्मक जगत् "ओंकार" अक्षर रूप ही है। सर्व पदार्थ अपने वाचक से भिन्न नहीं, अथवा वाचकमात्र ही हैं। (१) रूप सृष्टि नामपूर्वक होती है। प्रजापति ने शक्तित्रय (सृष्टि, स्थिति, संहार अथवा ज्ञान, बल, क्रिया) युक्त ब्रह्म स्वरूपी अनुष्टुप् मन्त्रद्वारा सर्व जगत् की रचना की। "यो वैतां वाचं वेद यस्या एष विकारः" "जो उस वाणी को जानता है जिसका यह विकार है।" (२) वाचक से पृथक् वाच्य की उपलब्धि नहीं होती—तदस्येदं वाचा नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्—ये सर्व विकारजात इस ब्रह्मसम्बन्धी सामान्य वाणी से तन्त्री के

समान व्याप्त हैं। (३) विकार वाक् का व्यवहार मात्र है, मिथ्या है—वाचाऽऽरम्भणो विकारो नामधेयम् (छान्दोग्य०–६, १, ५)। (४) प्रणव सर्वात्मक है—'ओंकार एवेदं सर्वमेतद्धै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म'। (प्रश्न ५, ३)-हे सत्यकाम ! यह पर तथा अपरब्रह्म सर्व ओंकार ही है। इन उपर्युक्त चार हेतुओं से वाच्य वाचक से भिन्न नहीं है, और संपूर्ण वाच्य ओंकार से भिन्न नहीं है। इस लिए संपूर्ण जगत्—पर अपर ब्रह्म—ओंकार रूप ही है। विकारमय—नामरूपात्मक जगत् रूप (शबल) ब्रह्म ओंकार से भिन्न नहीं, ओंकार मात्र ही है। और ओंकार परब्रह्म का वाचक होने के कारण परब्रह्म से भिन्न नहीं है। अथवा ओंकार अन्ततः चिन्मात्र रूप होने के कारण परब्रह्म रूप ही है। इस प्रकार संक्षेप से आत्म-प्रतिपत्ति के उपाय रूप से ओंकार का निर्देश करके सुष्ठु प्रतिपत्ति के लिए विस्तार से व्याख्या करते हैं। तथा शिष्यों की बुद्धि के समाधान के लिए ऐसा कहते हैं, यह ओंकार ब्रह्मप्रतिपत्ति (ज्ञान) का अत्यन्त उपयोगी साधन है, अतः हम उस ओंकार का विशेष व्याख्यान करेंगे।

(१) भूत, भविष्यत्, वर्तमान रूप त्रिविध काल की सीमा के भीतर जो यह स्थूल, सूक्ष्म जगत् है अर्थात् व्यष्टि-समष्ट्यात्मक विराट् रूप अथवा हिरण्यगर्भ रूप जो कुछ है सब ओंकार ही है। (२) तथा इस त्रिविध काल की अवधि से जो अतीत—परे—है, अर्थात् अव्यक्त तथा अव्यक्त से भी जो परे है; वह सब भी ओंकार ही है, अर्थात् यह भी ओंकार से अतिरिक्त नहीं है।

प्रश्न—यहां पर यह प्रश्न होता है कि माण्डूक्योपनिषद् ८-११ तथा इसी उपनिषद् के २, ५, ८ में यह वर्णन आता है कि आत्मा के ४ पाद—विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर तथा तुर्य (तुर्यतुरीय)—ओंकार की अ, उ, म्, अमात्र (अर्धमात्रा) मात्राएं हैं; संपूर्ण ओंकार रूप से किसी का भी निर्देश नहीं है। और यहां पर इस निर्देश के विपरीत विराट् आदि प्रत्येक को ओंकार कहा गया है। ऐसा क्यों है?

उत्तर—प्रत्येक पाद का संपूर्ण ओंकार रूप से यह निर्देश औपचारिक है।

प्रश्न—ऐसा अर्थ करने में श्रुति के (ओ३म् के) मुख्यार्थ का परित्याग हो जाएगा अर्थात् ऐसी दशा में ओंकार के स्थान में अ, उ आदि मात्रा का ही ग्रहण करना होगा।

उत्तर—प्रत्येक का ओंकार निर्देश सामान्य रूप से है।

प्रश्न—(१) सामान्य निर्देश की दशा में विराट् और हिरण्यगर्भ को त्रिकालातीत ईश्वर तथा तुर्य से पृथक् नहीं करना चाहिए था। चारों को एक कह कर ओंकार रूप से निर्देश करना चाहिए था। तथा

(२) यह सामान्य निर्देश पूर्व भाग में हो ही चुका है। फिर इस पुनरुक्ति की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, सन्मात्र (तुर्य) में से प्रत्येक का संपूर्ण ओंकार रूप से निर्देश है।

प्रश्न—एक ही प्रयोग में यह संभव नहीं?

उत्तर—एक ही संपूर्ण प्रणव वैखरी आदि के रूप से प्रत्येक पाद का वाचक है। अकार आदि प्रत्येक के वैखरी

आदि रूप से चार भेदों का निरूपण इसी उपनिषद् के २, ४, ८ में हुआ है, यद्यपि इनका वहां प्रकारान्तर से उपयोग है।

अकार आदि के स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा साक्षि (बीज, बिन्दु, नाद, शक्ति) रूप से चार अवान्तर भेद हैं, अर्थात् स्थूल अ, सूक्ष्म अ, इत्यादि। लोक में कोई ऐसा शब्द नहीं जो वैखरी आदि चार रूपों से रहित हो। वाक् के चार भेद तथा उनकी क्रमशः सूक्ष्मता का निरूपण शास्त्र में आता है। जैसे—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहां त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

"प्रत्येक पद में चार प्रकार की वाक् होती है, जिन्हें सूक्ष्मदर्शी दिव्य दृष्टि सम्पन्न विद्वान् ही जानते हैं, क्योंकि मध्यमा, पश्यन्ति और परा ये तीन वाक् के अव्यक्त भेद गुहा (हृदय) में छिपे पड़े हैं; उन्हें प्राकृत जन नहीं जानते क्योंकि ये वाह्यकरणों का विषय नहीं हैं। इसलिए साधारण जन वाक् के चतुर्थ भेद इन्द्रियग्राह्य वैखरी का ही प्रयोग करते हैं।"

वाणी के चार भेद ये हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा। इन भेदों तथा ओंकार के भिन्न भेदों का आत्म-प्रतिपत्ति में उपयोग का विस्तृत निरूपण किया जाता है।

(क) वैखरी प्रणव—अकार, उ, म तथा अर्धमात्रा रूप है, जिस का सर्वसाधारण को श्रोत्र द्वारा बोध होता है। यह प्रणव क्रिया शक्ति प्रधान होता है। यह वैखरी प्रधान (सम्पूर्ण अ, उ, म, अर्धमात्रा रूप) प्रणव विराट् का वाचक है; क्योंकि वाच्य तथा वाचक में खरत्व—कठिनता की समानता है। वैखरी इसीलिए वाक् के इस इन्द्रियग्राह्य भेद को कहते हैं क्योंकि इस में विशेष प्रकार का खरत्व अर्थात् कठिनता है।

(ख) मध्यमा प्रणव—वैखरी वाक् के उच्चारण से पूर्व अकारादि चार मात्रा का समुदाय क्रम विशेष सहित जो मन में ही उद्भूत (व्यक्त) होता है तथा ज्ञान शक्ति प्रधान है, वह मध्यमा प्रणव कहलाता है। मध्यमा प्रधान प्रणव हिरण्यगर्भ का वाचक है, क्योंकि वाच्य वाचक दोनों में मनोरूपता की समानता है। यह वाक् मध्य (मन में) ही निवास करती है, इसलिए इसे मध्यमा कहते हैं।

(ग) पश्यन्ति प्रणव—मध्यमा वाक् रूप विशेष ज्ञान से पूर्व, जब क्रम का बहिर्मुख स्पन्द मात्र होता है। इसलिए जो सामान्य ज्ञानस्वरूप तथा इच्छा शक्ति प्रधान है। इसे पश्यन्ति प्रणव (वाक्) कहते हैं। [१] समस्त जगत् की वासना से युक्त, समष्टि व्यष्टि सुषुप्त्यात्मक—अव्याकृत—तथा किञ्चित् बहिर्मुख सत् स्वरूप कारण शरीर युक्त आत्मा के तृतीय पाद को ईश्वर कहते हैं; और [२] (क) अन्तर्मुख सदात्मक सामान्य शरीरधारी आत्मा, अथवा (ख) इसका अधिष्ठान (वाच्य वाचक कल्पना रहित) चिन्मात्र आत्मा का तुर्यात्मा से निर्देश है। संख्या १ तथा २ दोनों का त्रिकालातीत रूप से उपनिषद् वाक्य में निरूपण किया गया है।

पश्यन्ति प्रणव कारण शरीर युक्त ईश्वर का वाचक है क्योंकि पश्यद्रूपता की समानता है। ओंकार, वाक् तथा ईश्वर (आत्मा) में ईक्षण, दर्शन, किञ्चित् बहिर्मुखता है।

(घ) परा प्रणव— सर्व स्पन्द से रहित, केवल सन्मात्र रूप से स्थित स्वातन्त्र्य शक्तिमान् सदात्मा परा वाक् रूप प्रणव कहलाता है। परा प्रणव सन्मात्र शरीर युक्त आत्मा का वाचक है क्योंकि इन में परत्व की समानता है।

(ङ) ओंकार का पञ्चम रूप वाच्यवाचक कल्पना से अतीत चिन्मात्र आत्मा ही परमार्थ तुर्यात्मा अथवा तुर्य-तुरीय आत्मा है। ओंकार चित्स्वरूप के बिना बोधक नहीं हो सकता।

इस व्याख्यान से यह दर्शाया गया है कि ओंकार कैसे आत्मप्रतिपत्ति का साधन है। इसके अभ्यास से आत्मप्रतिपत्ति हो सकती है। अभ्यासप्रकार निम्नलिखित प्रकार से है :—

१. व्यष्टि स्थूल शरीर का समष्टि स्थूल शरीर—जगत्—में लय करे; पुनः विराट् का वैखरी ओंकार में लय करे।

२. व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का समष्टि सूक्ष्मशरीर—जगत्—में लय करे अथवा तैजस का हिरण्यगर्भ में लय करके; फिर हिरण्यगर्भ तथा वैखरी ओंकार का मध्यमा ओंकार में लय करे (एकत्व, तन्मात्रत्व द्वारा)।

३. व्यष्टि कारण शरीर का समष्टि कारण शरीर—जगत्—में लय करे। अथवा प्राज्ञ का बीजात्मा में लय करे तथा बीजात्मा और मध्यमा ओंकार का पश्यन्ति ओंकार में लय करे।

४. व्यष्टि सन्मात्र शरीर का समष्टि सन्मात्र शरीर में लय करके, समष्टि सन्मात्र शरीर तथा पश्यन्ति ओंकार का परा ओंकार में लय करे।

५. परा ओंकार को चिन्मात्र आत्मा में लीन करे अर्थात् अभ्यासी चिन्मात्र रूप से अवस्थान करे।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म ॥२॥

संगति—(१) उपर्युक्त क्रमशः विलय द्वारा चिन्मात्रावस्थान का निर्देश है। यह सम्पूर्ण कार्य कारण प्रपञ्च अपने अधिष्ठान ब्रह्म में अध्यस्त है, अतः ब्रह्मरूप ही है।

(२) अथवा पूर्वोक्त भाग में अभिधान (वाचक) प्रधानता से यह निर्देश किया है कि कार्य, कारण जगत् (पर, अपर ब्रह्म) ओंकार रूप ही है। इससे यह भ्रान्ति भी हो सकती है कि पर, अपर ब्रह्म का ओंकार रूप से निर्देश अर्थात् इनकी एकता पारमार्थिक नहीं, गौण है; क्योंकि ओंकार पर-अपर ब्रह्म का वाचक है, इसलिए ओंकार का ब्रह्म से तादात्म्य गौण है—वास्तव में भेद है। ब्रह्म प्रधान है, ओंकार गौण है।

अब इस भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए वाच्य प्रधानता से निर्देश करते हैं कि यह सम्पूर्ण कार्यकारणात्मक जगत् ब्रह्म ही है। निम्नलिखित दोनों प्रकार से निर्देश किया जाता है कि यह सम्पूर्ण कार्य कारणात्मक जगत् ब्रह्म ही है।

(१) यह सब ओंकार है तथा (२) यह सब ब्रह्म है—इन दोनों प्रकार के निर्देश से वाच्य (पदार्थ) अथवा वाचक में से किसी एक के प्रधानत्व तथा गौणत्व का निषेध हो जाता है। अतः दोनों का इकट्ठा ही विलय हो सकता है।

अयमात्मा ब्रह्म —अहं वृत्ति के आलम्बन (विषय) प्रत्यगात्मा का निकट स्थानीय "अयं" से निर्देश करते हैं; अर्थात् 'अयमात्मा' का तात्पर्य है "त्वम्" ब्रह्म का तात्पर्य है सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाला तत् पदार्थ। इसलिए इस वाक्य का अर्थ है, तत् (ब्रह्म) त्वम् (प्रत्यगात्मा) का अभेद, अथवा जिस ब्रह्म का पूर्व वाक्य में (कार्य कारणात्मक जगत् रूप से) परोक्ष निर्देश है, उसी का प्रत्यक्ष निर्देश इस वाक्य में है।

उपसंहार

(१) अज्ञानी की दृष्टि में व्यष्टि समष्टि आत्मा में उपाधि-भ्रम के कारण भेद है।

(२) ज्ञानी की दृष्टि में उपहित चैतन्य ब्रह्म तथा प्रत्यगात्मा का अभेद है, क्योंकि उपाधि मायिक है (व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक)।

(३) परमार्थ दृष्टि में आत्मा से भिन्न व्यष्टि समष्टि उपाधि तुच्छ (असन्मात्र) है, अतः उपाधि की दृष्टि से भेद अथवा अभेद के अभाव होने के कारण निष्प्रतियोगिक (केवल) ब्रह्ममात्र ही शेष रहता है।

ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व ज्ञान का उपाय

(व्यतिहार)

तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मानमोमित्येकीकृत्य तदेकमजरममृतमभयमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरमारोप्य तन्मयं हि तदेवेति, संहरेदोमिति ॥३॥

तं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसंदध्यात्, स्थूलत्वात् स्थूलभुक्तत्वाच्च, सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मभुक्तत्वाच्चैक्यादानन्दभोगाच्च ॥४॥

ब्रह्मात्म ऐक्यप्रतिपत्ति उपाय—ओंकार द्वारा व्यतिहार।

आत्मा तथा ब्रह्म के भेद में दो हेतु प्रतीत होते हैं। इनका व्यतिहार द्वारा निषेध करते हैं। ये दो मिथ्या भाव ही पुनः-पुनः उठ कर साधक के अभेद निर्णय तथा अनुभूति में बाधा डालते हैं। इसलिए इन दो हेत्वाभासों के खण्डन से विपरीत भावना के निरोध द्वारा एकत्व के संशयादिरहित दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान के लिए व्यतिहार भावना का निरन्तर अभ्यास परमोपयोगी है। अतः इसका निर्देश करते हैं।

भेद-प्रतीति का प्रथम कारण—जगत् का कारण होने के कारण ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक है, परन्तु साधक अपने आत्मा को जगत् का कारण नहीं अनुभव करता। क्योंकि वह निज सामर्थ्य-ज्ञान आदि को इस महान् कार्य के अयोग्य समझता है। अपने-आप को परवश समझता है।

द्वितीय कारण यह है कि साधक को अपने अस्तित्व आदि के विषय में अपने आप का प्रत्यक्ष बोध होता है; परन्तु ब्रह्म जगत् के कारण रूप से अथवा शास्त्र-निर्देश से अपरोक्ष है।

इन दोनों भ्रान्तियों अथवा हेत्वाभासों का मूल ब्रह्म तथा आत्मा के स्वरूप में प्रत्येक की माया, प्रकृति, प्रधान आदि तथा कारण शरीर आदि उपाधियों का प्रवेश है। उपाधियों की परिच्छिन्नता तथा अपरोक्षता अथवा

अपरिच्छिन्नता तथा परोक्षता का आत्मा तथा ब्रह्म रूपी उपहित आत्माओं में आरोप होता है। उन दोनों का अपवाद "व्यतिहार" उपाय द्वारा किया जाता है। व्यतिहार का स्वरूप निम्नलिखित है :—

भाग (१) (तं)—अन्तःकरण के प्रकाशक तथा (एतं) चक्षुरादि के प्रवर्तक प्रत्यगात्मा का ओम् के द्वारा ब्रह्म से ऐक्य संपादन करना चाहिए। इसका प्रकार यह है। प्रणव के (अहं स) वाक्य रूप के द्वारा

अहं—स्थूल, सूक्ष्म, प्रधान—त्वं पदार्थ का वाचक है।
प्रत्यगात्मा का लक्षक है।
अकार, उकार भी—त्वं पदार्थ का वाचक है।
प्रत्यगात्मा का लक्षक है।
स— कारणोपाधि प्रधान—तत् पदार्थ का वाचक है।
परमात्मा साक्षि का लक्षक है।
ओ३म् की मात्रा भी—तत् पदार्थ का वाचक है।
परमात्मा साक्षि का लक्षक है।

अहं स के सामान्य अधिकरण द्वारा प्रत्यगात्मा की ब्रह्म से एकत्व प्रतीति होती है, अर्थात् अहं (प्रत्यगात्मा) स (परमात्मा) हूँ; परिच्छिन्न नहीं हूँ। अहं स अथवा ओ३म् के उच्चारण द्वारा अहं स के लक्ष्य मात्र अर्थात् साक्षि चेतन स्वरूप पर दृष्टि (भावना) रखते हुए, प्रत्यगात्मा से परिच्छिन्नत्व के बाध द्वारा अपरिच्छिन्नत्व को अनुभव करना चाहिए और इसकी आवृत्ति द्वारा पुनः-पुनः अभ्यास करना चाहिए। इस अनुभूति को दृढ़ करना चाहिए। यह भावना कल्पना नहीं है,

है। परिच्छिन्न देहरूप उपाधि पर दृष्टि रखने से अपने में परिच्छिन्नत्व की भ्रान्ति होती है। क्रमशः उपाधि से दृष्टि उठाने से तथा साक्षी पर दृष्टि स्थिर करने से निज पारमार्थिक, अपरिच्छिन्न चिन्मात्र स्वरूप की अनुभूति होगी। अपरिच्छिन्नत्व के तथ्य बोध से देहादियुक्त परिच्छिन्न, मिथ्या, कल्पना की निवृत्ति होगी

भाग (२)—इसी प्रकार ब्रह्म का प्रत्यगात्मा से एकत्व ओंकार द्वारा करना चाहिए। इसका प्रकार यह है—

प्रणव (ओ३म्) के सोऽहं वाक्य रूप द्वारा सो तथा ऽहं में से प्रत्येक के प्रथम अक्षर सकार तथा हकार के पृथक् करने से ओ+म्=ओम् की सिद्धि होती है। (क) सोऽहं तथा (ख) म, अकार, उकार के वाच्य तथा लक्ष्य अर्थ उपर्युक्त ही हैं। केवल क्रमभेद से फल में भेद है।

सो—म=परमात्मा साक्षी तथा अहं=अ+उ=प्रत्यगात्मा के समानाधिकरण द्वारा एकत्व प्रतिपादन से ब्रह्म के अपरोक्ष प्रत्यगात्मा रूप से अनुभव होने पर ब्रह्म में परोक्षत्व भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। ब्रह्म प्रत्यगात्मा (चिन्मात्र) रूप से प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार-सोऽहं रूप ओ३म् अथवा म्+(अ+उ) के पुनः पुनः चिन्तन द्वारा ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति द्वारा परोक्षत्व भ्रान्ति को निवृत्त करना चाहिए। उपर्युक्त "अहं स" और "सो ऽहं" दोनों प्रकार के व्यतिहार रूप प्रयोगों द्वारा, उपर्युक्त दोनों प्रकार के हेत्वाभासों की निवृत्ति से आत्मा में परिच्छिन्नत्व भ्रान्ति तथा ब्रह्म में परोक्षत्व भ्रान्ति रूप विपरीत (मिथ्या) भावना की निवृत्ति के द्वारा आत्मानुभूति को संदेहादि कालिमा से रहित, निर्मल

तथा दृढ़ करना चाहिए। इस अनुभूति और निष्ठा का भी परस्पर सहयोग होना चाहिए।

इस व्यतिहार द्वारा आत्मा के शुद्ध, अजर[1], अमर, अमृत, अभय, स्वरूप का अनुभव करके तथा पूर्ण अर्थवान् अनुज्ञा[2]प्रणव (सोऽहं वाक्यार्थ मात्र)द्वारा परिपूर्ण (त्रिविधभेद शून्य-अखण्ड) आत्म तत्व में स्थिति करनी चाहिए, अर्थात् सोऽहं पद तथा उनके भिन्न भिन्न अर्थ को भूल जाना चाहिए। यदि उस अखण्ड स्थिति से कभी किसी निमित्त से व्युत्थान होने पर जगत् की प्रतीति हो तो निम्नलिखित विधि से पुनः उस स्थिति का सम्पादन करना चाहिए।

(क) आरोप—महावाक्यार्थ रूप अखण्ड तुर्यात्मा में यह संपूर्ण (कार्य कारणात्मक जगत्) अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों[3] शरीरों को आरोप करना चाहिए। अथवा इस जगत् प्रतीति को आरोप (मिथ्या) समझना चाहिए। कारण और सामान्य शरीर की एकत्व दृष्टि से तीन शरीर कहे हैं। अन्यथा

---

१. एकम्—परमार्थ अद्वितीय तत्त्व होने के कारण, अजर= जरा हेतु अभाव के कारण जरादिषडूर्मी रहित अजर होने के कारण, अमृत=षड् भाव विकाररहित।

२. शास्त्र, आचार्य तथा युक्तिसिद्ध (अपरोक्ष) एकत्व को अनुभव करके वास्तव में परमार्थ आत्म तत्त्व ऐसा ही है, ऐसा अनुज्ञा प्रणव के द्वारा दृढ़ निश्चय करे।

३. इस में संपूर्ण त्रित्व सम्मिलित है, जैसे त्रिगुण, जाग्रदादि अवस्थात्रय, आध्यात्मिक आदि तापत्रय, विश्वादि जीवत्रय, विराडादि ईश्वरत्रय, ओमादि व्यष्टिसमष्ट्यैक्योपाधिक चैतन्यत्रय।

चार शरीर होते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और सामान्य। कारण तथा सामान्य शरीर में अल्प ही अन्तर होता है। ईक्षणावस्था बहिर्मुख सदात्मक कारण शरीर है। तथा प्रलयावस्था में वही सन्मात्र-अन्तर्मुख-साक्षी एकाकार-ब्रह्मज्ञान रूप सामान्य शरीर है।

(ख) अपवाद रूप उपसंहार—

तन्मयंहि तदेवेति संहरेदोमिति—

तन्मयं=यह संपूर्ण जगत् (प्रतिभास) तत=सच्चिदानंद रूप तुर्य ब्रह्ममय ही है, क्योंकि पट है, पट भासता है, पट सुखदायी है—इस रूप से सर्वत्र सत्, चित्, आनन्द का अन्वय है (तत् विकार होने के कारण) जैसे रज्जु में सर्प आदि रज्जु के विकार रज्जु से भिन्न कुछ नहीं हैं।

हि तदेव···=यह सर्व जगत् अध्यस्त होने के कारण ब्रह्मरूप ही है, इस युक्ति से निर्धारित करके, ओंकार के द्वारा अखण्ड आत्मत्व सम्पादन करके सर्व जगत् का आत्मा में उपसंहार (अपवाद) करे, अर्थात् मंदबुद्धि तुर्य प्रतिपत्ति के द्वारा तुर्य में अध्यस्त संपूर्ण जगत् को आत्ममात्र रूप से उपसंहार करे।

तं व एतं त्रिशरीरमात्मानं, त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसंदध्यात्। स्थूलत्वात् स्थूलभुक्तत्वाच्च सूक्ष्मत्वात्, सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्यादानन्दभोगाच्च ॥ ४ ॥

संगति—प्रत्यक् परब्रह्म की एकता का तथा त्रिशरीर रूप

जगत् के आरोप द्वारा परमार्थ सत्य अखण्डात्मा का विवरण ऊपर हो चुका, उसी की व्याख्या करते हैं—

(तं) ब्रह्म, (एतं) प्रत्यगात्मा (स्थूल, सूक्ष्म, कारण रूप) तीन शरीरों के अभिमानी आत्माओं (विश्व, तैजस, प्राज्ञ रूप व्यष्टि-आत्मा तथा विराट्, हिरण्यगर्भ; सूत्र-ईश्वर=बीजात्मा रूप समष्टि अभिमानी) को ब्रह्मरूप से चिन्तन करे अर्थात् मैं ब्रह्म ही हूँ इस वृत्ति का पुनः पुनः अभ्यास करे जब तक आत्मा का साक्षात्कार न हो। त्रिविध व्यष्टि तथा समष्टि अभिमानी के एकत्व प्रतिपादन के लिए हेतुनिरूपण करते हैं। (क) विश्व, वैराज के एकत्व में दो हेतु हैं—(१) ये दोनों इन्द्रियग्राह्य स्थूल शरीर रूप उपाधि के अभिमानी हैं (२) इसी प्रकार इनका भोग भी स्थूल है। अर्थात् उपाधि तथा भोग की समानता से इनका एकत्व है। ऐसे ही तैजस तथा हिरण्यगर्भ में सूक्ष्म उपाधि तथा भोग की समानता के कारण एकत्व है, तथा प्राज्ञ और ईश्वर में एक घन= उपाधि तथा आनन्द भोग की समानता के कारण एकत्व है। इन तीन की औपाधिक समानता है। और फिर इन तीन का आरोपित उपाधि के अपवाद (विलय) द्वारा निरुपाधिक एकत्त्व है। इस द्विविध क्रम से निज ब्रह्मत्व चिन्तन के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार तथा ब्रह्मरूपेण अवस्थान करना चाहिए। यह वाक्य माण्डूक्योपनिषद् ३–७ का सार है, अर्थात् इस वाक्य का सामान्य विवरण माण्डूक्योपनिषद् ३–७ में है और नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् १,५–१५ में माण्डूक्योपनिषद् के उपरोक्त वचनों का व्याख्यान है। मन्दबुद्धि वालों के लिए माण्डूक्योपनिषद् ३–७ का रहस्योद्घाटन करने के लिए पहिले १, ४ मन्त्रों में सार दिया गया है और फिर उसका विस्तृत विवेचन किया है।

सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ ५ ॥

ओंकार के वाच्य पर-अपर ब्रह्म रूप आत्मा के चार पाद हैं। त्रिविध भेदशून्य अखण्ड अद्वितीय आत्मा के सुगम बोध के लिए पादों की कल्पना की गई है। अन्यथा स्वगतभेदशून्य के पाद कैसे हो सकते हैं। अर्थात् ये चार पाद गौ के पाद के समान नहीं हैं; प्रत्युत ऐसे हैं जैसे व्यवहार के लिए एक रुपये में चार चवन्नियों की कल्पना की जाती है। प्रथम तीन पादों की साधन रूप से कल्पना है। चतुर्थ पाद साध्य है; अथवा परमार्थ दृष्टि से साध्य, साधन तथा पादकल्पना से रहित अखण्ड, नेति-नेति, आत्मा है (यहां पाद का केवल साधन अथवा साध्य रूप से निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करने से साधन अथवा साध्य में से एक का अपलाप हो जाएगा जिस से कुछ प्रतिपत्ति नहीं हो सकती) अब प्रत्येक पाद का क्रमशः निरूपण करते है :—

जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
स्थूलभुक् चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ६ ॥

(चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा स्थूल रूपादि ग्रहण रूप) जागरण स्थान का अभिमानी, चक्षु आदि के गोचर स्थूल विषयों की प्रज्ञा, (स्वरूप चैतन्य प्रज्ञा से भिन्न)=बुद्धि वृत्ति वाला, जिस के (१) द्युलोक=मूर्धा=शिर (२) आदित्य=चक्षु (३) अग्नि=मुख (४) वायु=प्राण (५) आकाश=देह का मध्य भाग (६) समुद्र=वस्ति (७) प्रतिष्ठारूप पृथिवी=पाद (छांदोग्य ५-१८-८) के अनुसार सात अंग हैं। (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, चार अन्तःकरण—ज्ञान अथवा कर्म

के साधन रूप अधिदेवता सहित) उन्नीस जिसके मुख हैं। शब्दादि स्थूल विषयों का जो प्रधानतया भोक्ता है; जिसके (स्व अविद्या पद स्थूलांश से अविभक्त स्थूल, सूक्ष्म, बीज, अर्धमात्रांश अर्थात् स्थूल स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, स्थूल बीज, स्थूलार्ध मात्रा के अनुयोग से) पुनः चार आत्मा—स्वरूप—भेद हो जाते हैं। यथाः—(१) विश्व विश्व (२) विश्व तैजस (३) विश्व प्राज्ञ, (४) विश्व तुर्य। इन भेदों में हेतु भिन्न-भिन्न व्यवहार ही है। यह विश्व वैश्वानर (व्यष्टि-समष्टि भेदरहित-संपूर्ण) आत्मा का प्रथम पाद है।

आत्मा का संसार अर्थात् व्यवहार दशा में स्थूलादि शरीरों में से प्रत्येक के साथ सम्बन्ध (अभिमान) किसी न किसी रूप में रहता ही है। भेद केवल भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रधान अथवा गौण भाव या व्यक्त-अव्यक्त रूप में ही होता है। जाग्रत् अवस्था में तो स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा सामान्य शरीर से सुस्पष्ट सम्पर्क होता ही है; तदनुसार समय-समय पर व्यवहार तथा उसके निर्वचन में भी भेद हो जाता है। इसलिए जाग्रदादि अवस्थाओं के पुनः चार भेद हो जाते हैं;—जैसे—जाग्रत-जाग्रत्, जाग्रत्-स्वप्न, जाग्रत्-सुषुप्ति, जाग्रत-तुर्य; अवस्था के भेद के अनुसार ही जाग्रत्-जाग्रत् आदि के अभिमानियों के भी फिर चार-चार भेद हो जाते हैं। यदि अभिमानियों के व्यष्टि समष्ट्यैक्य रूप से पुनः भेद किए जाएँ तो जाग्रदादि प्रत्येक अवस्था के बारह भेद हो जाते हैं। इनका विस्तृत विवरण इनके सुगमता से समझने के लिए नीचे दिया जाता है :—

(१) जाग्रत्-जाग्रत्=जब प्रमाता स्मरणादि मानस व्यापाररहित होकर केवल चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा स्थूल

जाग्रदादि अविभक्त जाग्रदादि अवस्था के व्यष्टि आदि अभिमानियों का चित्र—

अभिधान	व्यापार											
	जाग्रत्			स्वप्न			सुषुप्ति			(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य) तुर्य		
	व्यष्टि	समष्टि	व्यष्टि समष्टिऐक्य	व्यष्टि	समष्टि	व्यष्टि समष्टैक्य	व्यष्टि	समष्टि	व्यष्टि समष्टैक्य	व्यष्टि	समष्टि	व्यष्टि समष्टैक्य
जाग्रत्	विश्व विश्व*	विराट्-विराट्	ओतोता	विश्व तैजस	विराट सूत्र हिरण्यगर्भ	ओतानु-ज्ञाता	विश्व प्राज्ञ	विराट् बीजात्मा	ओतानुज्ञैक रस	विश्व तुर्य	विराट तुर्य	(ओतातुर्य) ओत्राविकल्प
स्वप्न	तैजस तैजस	सूत्र विराट	अनुज्ञातोता	तैजस तैजस	सूत्र सूत्र	अनुज्ञाता-नुज्ञाता (अनुज्ञाता)	तैजस प्राज्ञ	सूत्र बीजात्मा	अनुज्ञाता-नुज्ञैकरस	तैजस तुर्य	सूत्र तुर्य	(अनुज्ञाता तुर्य) अनु-ज्ञात्राविकल्प
सुषुप्ति	प्राज्ञ विश्व	बीज विराट्	अनुज्ञैकरस-ओता	प्राज्ञ तैजस	बीज सूत्र	अनुज्ञैकरस-अनुज्ञाता	प्राज्ञ प्राज्ञ	बीज बीज	अनुज्ञैकरस अनुज्ञैकरस	प्राज्ञ तुर्य	बीज तुर्य	(अनुज्ञैक रस तुर्य)=अनु-ज्ञैक रस अवि-कल्प
जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तुर्य	तुर्य विश्व	तुर्यानु-ज्ञाता तुर्यविराट्	तुर्योता अविकल्पोता	तुर्य तैजस	तुर्य सूत्र	तुर्यानुज्ञाता अविकल्पा-नुज्ञाता	तुर्य प्राज्ञ	तुर्य बीजात्मा	अविकल्प अनुज्ञैकरस	अविकल्पाविकल्प		

*युगल में विश्व आदि प्रथम मुख्य अवस्था के लिये कहा और युगल का दूसरे विश्वआदि मुख्य अवस्था अथवा अभिमानी का अवान्तर भेद है—तैजस विश्व=तैजस अविभक्त (अवान्तर भेद) विश्व ।

रूपादि विषयों को अनुभव करता है। इस अवस्था को जागरण-जागरण कहते हैं। व्यष्टि आदि भेद से इसके अभिमानी [विश्व अविभक्त (अवान्तरभेद-Subdivision) विश्व] विश्व-विश्व, विराट्-विराट्, ओतोता कहलाते हैं। व्यष्टि-समष्टि-ऐक्य अभिमानी (ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञैकरस तथा अविकल्प) जाग्रदादि चार अवस्थाओं के व्यष्टि-समष्टि-ऐक्य अभिमानियों की संज्ञा है।]

(२) जाग्रत्-स्वप्न :—(जाग्रत् (अवस्था) में स्वप्न—) जब प्रमाता चक्षु आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना मन से ही स्थूल बाह्य जगत् के विषयों को ग्रहण करता है; तब इस अवस्था को इस व्यवहार के अनुसार जाग्रत्-स्वप्न कहते हैं; इस के अभिमानी को विश्व-तैजस, विराट्-हिरण्य गर्भ, तथा ओतानुज्ञाता कहते हैं।

(३) जाग्रत्-सुषुप्ति :—जब पूर्वोक्त दो प्रकार से नेत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार के भाव अथवा अभाव होने पर निद्रा के कारण निर्व्यापार नहीं है (इन्द्रियों से वियुक्त नहीं) अर्थात् चक्षु आदि अथवा मन से न रूप आदि को ग्रहण करता है, न अपने आप को, केवल अचेतन के समान ठहरता है; (व्यवहार करता है) तब इस अवस्था को जाग्रत्-सुषुप्ति कहते हैं; इसके अभिमानी को विश्व-प्राज्ञ, विराट्-बीजात्मा, तथा ओता-अनुज्ञैकरस कहते हैं।

(४) जाग्रत्तुर्य :—जब प्रमाता आचार्य के उपदेश से पुण्य परिपाक के द्वारा (सम्प्रज्ञात समाधि आरूढ़ के समान) विशेष सामान्य भेद को न ग्रहण करता हुआ (अर्थात् दृश्य से उदासीन है) जागरण जागरण आदि भाव-अभाव प्रकाशक

"साक्षी मैं हूँ" ऐसा भान होता है, तब इस अवस्था को जाग्रत्-तुर्य कहा जाता है। और इसके अभिमानी को विश्व-तुरीय, विराट्-तुरीय तथा ओतृ-तुरीय कहते हैं।

जैसे स्थूल विषय के व्यष्टि भोक्ता विश्व के चार पाद हैं ऐसे ही स्थूल जगत् के समष्टि भोक्ता वैश्वानर (विराट्) तथा व्यष्टि-समष्टि-ऐक्य भोक्ता ओता के भी चार पाद हैं यथा—विराट्-विराट्, हिरण्य गर्भ विराट्, ओता ओता, विराट ओता, अर्थात् उपर्युक्त मूल में जाग्रत्-जाग्रत्, जाग्रत्-स्वप्न, जाग्रत्-सुषुप्ति, जाग्रत्-तुर्य में विश्व के भेद दिये हैं, ऐसे ही विराट् और ओता के समझने चाहिए।

१. स्थूल सूक्ष्म का अथवा जाग्रत् स्वप्न का कार्य है—इसलिए सूक्ष्म तथा स्वप्न को पहिले कहना चाहिए, सृष्टि क्रम तो ऐसा ही है; परन्तु यहां संहार क्रम से निरूपण है, क्योंकि इस का प्रयोजन अपवाद के द्वारा परमार्थ तत्त्व का ही निरूपण है।

२. जाग्रत् अवस्था में आत्मा का निवास स्थान दक्षिण चक्षु कहा गया है। यह सम्पूर्ण बाह्येन्द्रियों का उपलक्षण है, क्योंकि इनके द्वारा ही बाह्य स्थूल विषयों को भोगता है, यद्यपि निवास तो इसका सम्पूर्ण शरीर में ही होता है—"इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः"—बृ० उ०

स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः

सूक्ष्मभुक् चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः ॥७॥

(जाग्रत् वासना-जन्य) स्वप्नस्थान (अवस्था का अभिमानी) सूक्ष्म मनोवासना रूप विषय की प्रज्ञा वाला पूर्वोक्त वासनामय सप्त अंग तथा उन्नीस मुख (भोग द्वार—साधन)

वाला, वासनामय सूक्ष्म विषय अथवा वासना मात्र प्रज्ञा का भोक्ता, अवान्तर चतुःस्वरूप अथवा भेद से युक्त, व्यष्टि आदि भेद से तैजस, हिरण्यगर्भ अथवा अनुज्ञाता नाम वाला आत्मा का द्वितीय पाद है।

प्रश्न—जागरण में स्वप्न जाग्रत् के भेद के प्रयोजक, व्यावहारिक स्वाविद्याजन्यशरीर, इन्द्रिय और विषय के भाव के कारण जागरण के चार भेद तो हो सकते हैं, परन्तु स्वप्नावस्था में शरीर, इन्द्रिय तथा विषय के अभाव के कारण, इसके अवान्तर चार भेद कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—स्वप्न में जाग्रत् शरीर आदि का सर्वथा अभाव नहीं होता, वे वासना रूप से रहते हैं इसलिए स्वप्नावस्था के भी चार अवान्तर भेद उपयुक्त हैं; जैसे :—

१. स्वप्न (अन्तर्गत) जागरण :—जब स्वप्न द्रष्टा मानस व्यापार के बिना स्वाप्निक वासनामय चक्षु आदि से वासनामय रूपादि विषय का अनुभव करता है, यह अवस्था स्वप्न-जागरण कहलाती है। इस अवस्था के अभिमानी तैजस (अविभक्त= का भेद)=विश्व तैजस हिरण्यगर्भ सूत्र विराट् तथा अनुज्ञातौता कहलाते हैं।

२. स्वप्न-स्वप्नः—जब स्वप्न में स्वप्न जाग्रत् व्यवहार शून्य, स्वप्न के वासनामय चक्षु आदि के बिना केवल मन के व्यापार द्वारा ही विषयों को अनुभव करता है, यह अवस्था स्वप्न-स्वप्न कहलाती है; तथा इस के अभिमानी व्यष्टि आदि भेद से तैजस-तैजस, हिरण्यगर्भ-हिरण्यगर्भ (सूत्र-सूत्र) तथा अनुज्ञाता-अनुज्ञाता कहलाते हैं।

३. स्वप्न-सुषुप्ति—जब स्वप्नावस्था में ही स्वप्न-जाग्रत् तथा

स्वप्न-स्वप्न व्यवहार शून्य, स्वाप्निक चक्षु आदि अथवा मन द्वारा किसी पदार्थ के सामान्य अथवा विशेष रूप को न ग्रहण करके स्वाप्निक रूप आदि अथवा अपने आप को भी भूल जाता है केवल अचेतन के समान स्तब्ध सा भासता है, इस अवस्था को स्वप्न-सुषुप्ति कहते हैं। इसके अभिमानी को तैजस-प्राज्ञ, सूत्र-बीजात्मा तथा अनुज्ञाता-अनुज्ञैकरस कहते हैं।

(४) स्वप्न-तुर्य—अपने पुण्य के परिपाक से स्वप्न के उपर्युक्त अवान्तर भेद जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति केव्यवहार से शून्य, अपने भीतर तथा बाहर वासनामय पदार्थों के भाव तथा अभाव के प्रकाशक रूप से स्थित होता है, इस अवस्था को स्वप्न-तुर्य कहते हैं। और इसके अभिमानी को तैजस-तुरीय, हिरण्य गर्भतुरीय, तथा अनुज्ञाता-तुरीय कहते हैं।

प्राज्ञ का चतुरात्मत्व

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव आनन्दमयो, आनन्दभुक् चेतोमुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः ॥८॥

सुषुप्ति के लक्षण—

सुषुप्ति के दो भेद हैं (१) परमात्म तत्त्व का अज्ञान रूप, जो अनादि काल से निरन्तर चल रहा है, जिसकी निवृत्ति उपनिषद् के श्रवणादि द्वारा आत्म-दर्शन के होने से होती है।

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।" गीता २,६९॥

"जो आत्मतत्त्व सब प्राणियों की रात्रि है अर्थात् जिस आत्मतत्त्व में प्राणियों की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, जिस में वे सोते हैं, उस आत्मतत्त्व में संयमी-ज्ञानी जागरूक है, तथा जो साधारण प्राणी का दिन है वह संसारभोगादि ज्ञानी की रात्रि है ।"

तुलसी रामायण में भी आया है—

जानिय तब हीं जीव जग जागा ।
जब सब विषय विलास विरागा ॥

इस पर तत्त्व विषयक अज्ञान रूप सुषुप्ति की आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना निवृत्ति नहीं होती ।

(२) व्यावहारिक सुषुप्ति जिसका नित्य प्रति प्रत्येक जीव को अनुभव होता है, और जो प्रति दिन निवृत्त भी हो जाती है । इस सुषुप्ति को प्रत्येक प्राणी जानता है । परन्तु प्रथम प्रकार के आत्म तत्त्व के अज्ञान रूप स्वाप (सुषुप्ति) को प्रायः शास्त्र-पण्डितजन भी नहीं जानते ।

परमार्थ तत्त्व का अप्रबोध रूप स्वाप (सुषुप्ति-निद्रा) जाग्रत्, स्वप्न तथा व्यावहारिक सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में समान है । इस लिए जाग्रत् तथा स्वप्न से सुषुप्ति को पृथक् करने के लिए सुषुप्ति में पूर्व दो की अपेक्षा से विशेष भेद कहा जाता है । स्वप्न का भाव है अन्यथा ग्रहणमात्र । जिस अवस्था में सोया हुआ अज्ञानावृत होने के कारण (इन्द्रियग्राम-व्यापार रहित) (१) पुण्यपाप के फलस्वरूप—दारा, पुत्र, धनादि पदार्थों की

कामना नहीं करता तथा (२) अन्यथा ग्रहण लक्षण वाले स्वप्न को भी नहीं देखता है, उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। अब तृतीयपाद का निरूपण करते हैं।

सुषुप्ति स्थान (अवस्था) का अभिमानी, (पूर्वोक्त जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों स्थानों में, स्वभिन्न सप्तांग, उन्नीस मुख आदि, मन स्पन्दन मात्र द्वैत समूह), इस द्वैत स्वरूप को त्यागे विना, कारण अवस्था को प्राप्त होने के कारण भेद पृथक् प्रतीत नहीं होता, जैसे दिन, रात्री के अन्धकार से ग्रस्त हो जाने पर भिन्न प्रतीत नहीं होता, ऐसे ही यह संपूर्ण प्रपञ्च केवल एक सन्मात्र रूप से ही प्रतीत होता है। एककरण उपाधियुक [जाग्रत् स्वप्न की भिन्न भिन्न अनन्त प्रज्ञा (विशेष ज्ञान) के अविवेक के कारण] प्रज्ञान घन के समान (क्योंकि ये भिन्न भिन्न प्रज्ञा पुनः विभाग को प्राप्त होती हैं, विशेष विज्ञान के आयास से रहित होने के कारण) आनन्द प्रायः आत्यन्तिक आनन्द मात्र नहीं—क्योंकि दुःख का बीज रहता ही है। यह निरुपाधिक स्वरूपानन्द नहीं कारणोपहित आत्मा की अवस्था है। (अनायास स्थिति रूप) आनन्द का भोक्ता जाग्रत् आदि अवस्थायुक्त चित्त का द्वार (कारण) है, इसी लिए इसे प्रज्ञानघन कहा है, स्थूल, सूक्ष्म घनरूप से यहां विद्यमान होते हैं। (चार स्वरूप अथवा अवान्तर भेद से युक्त भूत भविष्यत् सर्व विषय का सन्मात्र रूप से ज्ञाता होने के कारण) प्राज्ञ अथवा प्रज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र इसका साधारण स्वरूप है अन्य का विशेष ज्ञान स्वरूप है। यह प्राज्ञ ही ईश्वर है अथवा समष्टि-कारण-उपाधि-युक्त ईश्वर तथा व्यष्टि-समष्ट्यैक्य उपाधियुक्त अनुज्ञैकरस आत्मा का तीसरा पाद है ॥ ८ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥९॥

संगति—सर्वेश्वरत्व आदि धर्म सापेक्ष होने के कारण ये बीज-प्राज्ञ के ही संभव हैं, निर्बीज तुर्य के नहीं हो सकते, इस लिए व्यष्टि समष्टि की अभेद दृष्टि से इसके अन्य धर्मों का निरूपण किया जाता है। यह स्वरूपावस्था प्राज्ञ ही आधिदैविक आदि भेद युक्त—जगत् का शासक, ज्ञाता, अन्तर्यामी, कारण अर्थात् सर्वभूतों के जन्म का मूल है ॥६॥

सुषुप्ति के चार भेद—

प्रश्नः—जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्था में व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक प्रतीति विद्यमान होती है, अतः इनके चार अवान्तर भेद संभव हैं; परन्तु सुषुप्ति में सर्वेन्द्रियों के उपरत हो जाने के कारण जाग्रदादि विभाग असंभव हो जाते हैं, अतः उसके चार अवान्तर भेद कैसे हो सकते हैं ?

उत्तरः—सुषुप्ति में करणग्राम के उपराम होने पर शेष नित्य साक्षी तो रहता है क्योंकि जागने पर यह स्मृति होती है कि इतना काल मैं सुख से सोया, कुछ भी ज्ञान मुझे नहीं रहा; अर्थात् सुषुप्ति दशा में सुख, अज्ञान, काल तथा साक्षी की अनुभूति रहती है। अनुभूति के बिना स्मृति असंभव है। इस लिए सुषुप्ति में भी जाग्रत्, स्वप्न के निर्वाहक स्थूल, सूक्ष्मशरीर, इन्द्रिय तथा विषय बीजरूप से रहते हैं। उस समय इन शरीर आदि का भान न होने पर भी सुषुप्ति से उठने पर जाग्रत् तथा स्वप्न में से एक स्थान की प्राप्ति होती है इसलिए सुषुप्ति के भी चार अवान्तर भेद सिद्ध हैं।

१. सुषुप्ति जाग्रत—जाग्रत् तथा स्वप्न में से किसी स्थान से सुषुप्ति में जाने की इच्छा वाला पुरुष जब नेत्रादि से रूपादि

के अज्ञान का अनुभव करता है; तब यह अवस्था सुषुप्ति-जाग्रत् कहलाती है; और इसके अभिमानी प्राज्ञ-विश्व, बीजात्मा-विराट् तथा अनुज्ञैकरस-ओता कहलाते हैं।

२. सुषुप्ति-स्वप्नः—इसी प्रकार उपर्युक्त दशा में जब पुरुष बाह्य रूपादि के अज्ञान से उपरत हो जाने पर जाग्रत् तथा स्वप्न में से किसी एक स्थान में मन द्वारा ही रूपादि के अज्ञान को अनुभव करता है: तब इसे सुषुप्ति-स्वप्न कहते हैं; और इसके अभिमानी को प्राज्ञतैजस, बीजात्मा-हिरण्यगर्भ, तथा अनुज्ञैक-रसानुज्ञाता कहते हैं।

३. सुषुप्ति-सुषुप्तिः—उपर्युक्त द्वितीयावस्था में जब स्वचैतन्य व्याप्त अज्ञान वृत्तियों के द्वारा अज्ञान अनुभव करता हुआ भी स्तब्ध के समान कुछ अनुभव नहीं करता, तब इस अवस्था को सुषुप्ति-सुषुप्ति कहते हैं। तथा इसके अभिमानी को प्राज्ञ-प्राज्ञ, बीजात्मा-बीजात्मा तथा अनुज्ञैकरस-अनुज्ञैकरस कहते हैं।

४. सुषुप्ति-तुरीयः—उसी उपर्युक्त तृतीय दशा में जब सुषुप्ति के अवान्तर तीन भेद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के भाव तथा अभाव के प्रकाशक को आत्मरूप से जानता है कि "प्रत्यगानन्द आत्मा मैं हूँ" तब इसको स्वाप-तुर्य कहते हैं और इसके अभि-मानी को प्राज्ञ-तुरीय बीजात्मा-तुरीय, तथा अनुज्ञैकरसतुरीय कहते हैं।

प्रश्नः—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के अवान्तर भेद जाग्रदादि विद्वान् तथा अविद्वान् दोनों प्रतिदिन अनुभव करते हैं। इन अवस्थाओं में विद्वान् तथा अविद्वान् में क्या भेद होता है ?

उत्तरः—ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर तथा ब्रह्मवित्-वरीयान् में से प्रत्येक विद्वान् ने इन अवस्थाओं के पूर्व ही श्रुति तथा आचार्य

के मुख से जानकर यह निश्चय कर लिया होता है कि सच्चिदानन्दरूप, परमार्थ अखण्ड आत्मतत्त्व को आवरण करने वाले अज्ञान की जड़, क्रिया, ज्ञान, इच्छा रूप शक्ति के परिणाम जाग्रदादि, प्रत्येक के जाग्रत्‌जाग्रदादि चार अवान्तर भेद, परस्पर व्यभिचारादि अनेक दोषों से दूषित हैं। और इन बारह अवस्थाओं के आरोप तथा अपवाद का अधिकरण रूप से तथा इनके भाव तथा अभाव के साक्षिरूप से विद्यमान तुरीय आत्मा में आरोपित जाग्रदादि के ४ अवान्तर भेदों से अस्पृष्ट है तथा नित्य है:—"असंगोऽयं पुरुषः" परन्तु क्योंकि पूर्वोक्त आरोपित जाग्रत्-जाग्रदादि अवस्थाओं में मैं तथा मेरा अभिमान से अभिभूत होने के कारण, निरावरण प्रत्यगात्मा से अभिन्न परम प्रकाश ब्रह्मरूप तुरीय का भान नहीं होता, इसलिए जाग्रत्-जाग्रदादि (विमल चिर प्रकाश में मुमूर्षावस्था (मरणासन्न) वाले चित्त से कल्पित नाना रत्नों से जड़े हुए स्वर्ण के पक्षी, पन्नग, रथ, गज, तुरंग, मनुष्य तथा उनके अनेक प्रकार की भोग सामग्री से युक्त स्थानादि गन्धर्व नगर के समान) मायामात्र हैं—इस अपार कल्पना का जो अधिकरण है वह सत्य है, वही मैं हूं—इसके निरन्तर अनुसंधान से ब्रह्मवित् आदि बनता है। परन्तु अविद्वान् की जाग्रदादि अवस्थाओं तथा तत्सम्बन्धी सामग्री और व्यवहार में सत्य बुद्धि होती है ॥६॥

अवस्थात्रय की माया मात्रता

त्रयमप्येतत् सुषुप्तं, स्वप्नं,
जाग्रतं मायामात्रं, चिदेकरसोह्ययमात्मा ॥१०॥

संगतिः—साधन रूप तीन पादों तथा उनकी तीन अवस्थाओं

अथवा स्थानों का आत्मा में आरोप स्वीकार करके साध्यरूप चतुर्थपाद के निरूपण के लिए पूर्वोक्त तीनों पादों को अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान रूप से निरूपण करके उनका अपवाद करते हैं।

व्यष्टि-समष्ट्यात्मक जाग्रदादि तीन अवस्थाएं, उपर्युक्त अंगादि नाना भेदों से युक्त (१) सुषुप्तिमात्र ही हैं क्योंकि परमार्थ सत्य, अखण्ड आत्मा को आवरण करने वाली हैं अर्थात् इनके कारण निज (त्रिकालाबाध्य) परमार्थ आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता। और (२) परमार्थ तत्त्व की आवरण रूप इन तीन अवस्थाओं तथा उनके कार्य में 'मैं तथा मेरा' बुद्धि स्वप्न तुल्य है, प्रातिभासिक (प्रतीति काल में ही रहने वाला) है। (३) परन्तु विचार करने पर अर्थात् परमार्थ ज्ञानी की दृष्टि से माया मात्र (शश के सींग के समान) तुच्छ हैं, क्योंकि इनके व्यभिचारी होने के कारण और इनके अपवाद द्वारा सिद्ध इन तीनों में अनुस्यूत होने के कारण एकरस चिन्मात्र आत्मा परमार्थ सत्य है।

व्यावहारिक दृष्टि से इन तीनों अवस्थाओं में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का भेद चाहे हो, परन्तु परमार्थ आत्मस्वरूप के आवरण की दृष्टि से इन तीन में कोई अन्तर नहीं है, ये तीनों ही सुषुप्ति रूप हैं तथा आत्मतत्त्व की अन्यथा प्रतीति (शरीर, इन्द्रिय, विषय में मैं और मेरा प्रतीति) की दृष्टि से ये स्वप्न हैं। परन्तु इन व्यभिचारी स्वरूपों में एक अव्यभिचारी अंश विद्यमान रहता है, जो इसी हेतु से मैं का यथार्थ स्वरूप है, जिस के अविवेक के कारण, इन व्यभिचारी स्वरूपों में भी मैं तथा मेरी बुद्धि होती है। अतः ये अवस्थाएं सम्पूर्ण

रूप से अत्यन्त व्यभिचारी न होने के कारण सर्वथा तुच्छ नहीं हैं, प्रत्युत ये व्यभिचारी अवस्थाएं (स्थान) तथा इन में 'मैं, मेरा' बुद्धि-अभिमान ही मायामात्र अर्थात् तुच्छ हैं। अव्यभिचारी, त्रिकालाबाध्य चिन्मात्रांश एकरस तथा परमार्थ आत्मा है, जो चतुर्थ-साध्य-पाद है; अर्थात् परमार्थ आत्म-प्रतिपत्ति में इन तीन अवस्थाओं के विषय में निम्नलिखित भिन्न-भिन्न यथार्थमति क्रमशः उत्पन्न होती है अथवा अज्ञान की क्रमशः निवृत्ति होती है :—

१म कक्षा में ऐसा बोध होता है कि इन अवस्थाओं से युक्त स्वरूप परमार्थ आत्म स्वरूप नहीं है।

२य कक्षा में ऐसा बोध होता है कि ये अवस्थाएं प्रातिभासिक (प्रतीतिकालिक) हैं।

३य कक्षा में ये अवस्थाएं तुच्छ मात्र भासती हैं।

आत्मा के परमार्थ चिन्मात्र स्वरूप की प्रतीति—स्फूर्ति—अनुभूति क्रमशः शुद्ध होती जाती है। सत्य की अनुभूति तथा असत्य में सत्य बुद्धि रूप भ्रान्ति की निवृत्ति सापेक्ष है ॥१८॥

तुरीय के चार भेद

अथ तुरीयश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वादेकैकस्योतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैस् त्रयमप्यत्रापि सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो हि ॥११॥

संगति—अब क्रमप्राप्त तुरीयात्मा का निरूपण करते हैं। अज्ञानी की दृष्टि से आत्मा के आरोपित उपर्युक्त तीन पादों की अपेक्षा से, ज्ञानी की दृष्टि में इस पाद को चार भेदयुक्त तुरीय कहा जाता है। अन्यथा पूर्वोक्त तीनों के अपवाद

हो जाने पर इसका तुरीय कहना अयुक्त है, क्योंकि तुरीय के अधिष्ठान रूप से बोध होने पर पूर्वोक्त तीन का बाध हो जाता है, अर्थात् जब तीन तुच्छ हैं तब इस परमार्थ तत्त्व को तुरीय कैसे कहा जाए। और फिर परम, अखण्ड, त्रिविध भेद शून्य तत्त्व में चार भेद भी परमार्थ दृष्टि से नहीं बन सकते। अतः सामान्य ज्ञानी की दृष्टि से ही ये चार भेद भासते हैं; परमार्थ दृष्टि से सर्वद्वैत रूप भेद का बाध होकर तुर्य तुरीय (वाङ् मनसागोचर तत्त्व) ही शेष रहता है।

शब्दार्थ—तुर्य आत्मा के भी चार भेद हैं, क्योंकि (१) जाग्रत्, विश्व, विराट्, ओता आदि तीन अवस्थाओं तथा उनके अभिमानियों का तुर्य में अवसान होता है। ओतृ, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा, अविकल्प रूप से, इन में से तीन तुर्य जाग्रत् (ओतृ), तुर्य स्वप्न, तुर्य सुषुप्ति भी सुषुप्ति (आत्मा को आवरण करने के कारण) है, तथा स्वप्न प्रातिभासिक, तथा मायामात्र तुच्छ है। चिदेकरस ही परमार्थ सत्य है।

अर्थ—जाग्रदादि तीन अवस्थाओं (जो विद्वान्-अविद्वान् सब को किसी न किसी दृष्टि से अनुभव में आती हैं) के निरूपण के अनन्तर, तुरीय पाद का निरूपण आरंभ होता है, जिस में विद्वान् का ही अधिकार है; जहां अविद्वान् (साधनचतुष्टयरहित) की गति कदापि नहीं हो सकती। आत्मा के इस तुरीय पाद के भी चार अवान्तर भेद हैं—

परमार्थ तुर्य तुरीय आत्मा त्रिविध भेद शून्य अखण्ड तत्त्व है—सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद उसमें कुछ नहीं, अतः उसमें स्वगत व्यष्टि आदि भेद की कल्पना भी नहीं हो सकती। न ही उसमें परमार्थ तत्त्व की दृष्टि से तुर्य-जाग्रत् आदि सत् रूप से रह सकते हैं। इसलिए तुर्य तुरीय का तुरीय

जाग्रदादि पूर्वोक्त तीन के साथ कोई पारमार्थिक योग नहीं बन सकता। इसलिए विभाग शून्य तुर्य तुरीय के सहित तुरीय के चार भेद हैं, अन्यथा तुरीय के तीन भेद हैं।

प्रश्न—तुरीय के तीन भेद भी संभव नहीं। क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में शरीर, इन्द्रिय तथा अर्थ—व्यक्त, अव्यक्त बीज रूप से—वर्तमान होते हैं, इसलिए जाग्रदादि के चार भेद हो सकते हैं, परन्तु अविकल्प तुरीय अवस्था निर्बीज है, अतः इसके तीन भेद कैसे होंगे। और यदि इसके भी भेद करने ही हैं, तो उपर्युक्त शास्त्रानुसार चार ही भेद मानने चाहिएँ।

उत्तर—उपर्युक्त श्रुति में तुरीय के उपरोक्त तीन भेद सविशेष तथा एक निर्विशेष (नेतिनेति) को एकत्र करके किये गये हैं।

प्रश्न—तुरीय के पूर्वोक्त तीन भेद भी तो निर्विशेष, सच्चिदानन्द, त्रिविध भेद रहित, अखण्ड आत्मा का निर्देश करते हैं।

उत्तर—यह ठीक नहीं है, परन्तु यह जाग्रदादि विशेष रूप प्रतियोगी के निषेध (बाध) करने से, सप्रतियोगिक निर्विशेष हैं; परन्तु सप्रतियोगिक (विशेष सापेक्ष) निर्विशेष तथा निष्प्रति-योगिक (निरपेक्ष-निर्विशेष) निर्विशेष, सविकल्प तथा अविकल्प रूप होने के कारण इनका ऐक्य, (योग मेल-समावेश) उपयुक्त नहीं। आत्मा में आरोपित साक्ष्य (नामरूपात्मक जगत्) के प्रकाशक साक्षी में, (साक्ष्यता का अभाव होने पर) (साक्ष्य) सापेक्ष साक्षिता भी असंभव है; परन्तु सविकल्प साक्ष्य की विद्यमानता में सविकल्पिक होने के कारण सविशेष ही है, इसमें निर्विशेषता गौण—(सापेक्ष-सातिशय) है। जैसे वृहदा-

रण्यकोपनिषद् २, ३, ६, में 'नेतिनेति' आत्मा का निर्देश है— "सत्यस्य सत्यम्", ऐसे ही इन चार पादों में अविकल्पा-विकल्प रूपचतुर्थ भेद की ही अविकल्पता निर्विशेषता मुख्य—निरपेक्ष—निरतिशय है।

[बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में परमार्थ आत्मा के निरूपण के उद्देश्य से प्रथम अमूर्त (आकाश वायु) तथा मूर्त (अग्नि, जल, पृथिवी) के वर्णन के द्वारा कार्य-कारणोपाधिक आत्मा का निरूपण किया है। इन पांच में आकाश तथा वायु, (और अध्यात्म दृष्टि से प्राण तथा हृदया-काश) अमूर्त को अमृत (सत्य) कहा है, और अन्य अधिदैवत तथा अध्यात्म (शरीरारंभक) तीनमूर्तभूतों को मर्त्य तथा असत्य कहा है। और फिर परमार्थ निरुपाधिक आत्मा का नेति नेति द्वारा निर्देश करते हुए कहा है कि यह निरुपाधिक आत्मा ही सत्य का सत्य है। पूर्व तीन भूतों की अपेक्षा से यह प्राण सत्य है, परन्तु यह नेति नेति आत्मा सत्य (प्राण) की अपेक्षा से भी परम सत्य है, अर्थात् परमार्थ तुर्य तुरीय आत्मा निरपेक्ष मुख्य सत्य है। प्राण की सत्यता तो भूतत्रय की अपेक्षा मात्र से है, अतः यह मुख्य निरपेक्ष सत्य नहीं। ऐसे ही तुरीय के पहिले तीन भेदों की निर्विशेषता अथवा अविकल्पता सापेक्ष गौण है, पूर्वोक्त तीन पादों की अपेक्षा से यह निर्विशेष है, परम-निरपेक्ष, निर्विशेष नहीं, निरपेक्ष, मुख्य, निर्विशेष तो तुर्य-तुरीय आत्मा ही है] इस प्रकार प्रथम तीन भेद सविशेष तथा चतुर्थ निर्विशेष तुरीय को पृथक् करने के लिये तीन प्रकार का तुरीय का कथन उपयुक्त ही है। क्योंकि चार भेद कहने से इन दो में अभिन्नता (समानता) रूप दोष लागू होता है।

प्रश्न—पहिले यह प्रश्न किया गया है कि तुरीय निर्बीज (देहादि बीज से रहित) है, इसलिए भेद के कारण देहादि के न होने के कारण तुरीय के अवान्तर भेद किसी रूप से नहीं हो सकते, अब इसका विचार करते हैं।

उत्तर—तुरीय के पहिले तीन भेद सबीज ही हैं, क्योंकि तुर्य के व्यष्टि समष्ट्यात्मक तीन भेद गुण साम्य रूपसे साक्षी की उपाधि हैं और पूर्वोक्त सुषुप्ति में देहादि में अभिमान का बीज-रूप जो अज्ञान कहा गया है, गुण साम्यावस्था इस बीज अज्ञान की कारण है। अथवा गुणसाम्य 'वीज अज्ञान कारण रूप है। (अज्ञानकारण की बीज अवस्था गुण साम्य है)। शरीर आदि व्यक्त, अव्यक्त बीज उस समय मूर्च्छित रहता है; जाग्रदादि प्रथम तीन अवस्थाओं में बीज आदि (व्यक्त, अव्यक्त शरीर इन्द्रिय) व्यापार करता है, परन्तु तुर्य जाग्रत् आदि यह बोध मूर्च्छित रहता है और अखण्डात्मा का भान होता है (भेद बीज रूप से रहता है) तभी तो फिर व्युत्थान होता है, अर्थात् जाग्रदादि का भान होता है; यदि अज्ञान का नितान्त अभाव हो गया होता तो व्युत्थान असम्भव था; तुर्य-बीज पदारूढ़ ब्रह्मविद्वरिष्ठ का भी पुनरुत्थान देखा जाता है। परन्तु निष्प्रतियोगिक-निर्बीज तुर्य तुरीय मात्र (चतुर्थ भेद) रूप से अवस्थित (सप्तम भूमिका वाले ज्ञानी) का उत्थान नहीं देखा जाता। व्युत्थान भी संसार दुःख का हेतु होने के कारण, तथा तुर्य के प्रथम तीन भेद और जाग्रत्-जाग्रत् आदि १२ भेदों में आत्मा का आवरण, भेद प्रतीति तथा निज आरोपित स्वरूप में (किसी न किसी रूप में) सत्यत्व बुद्धि की दृष्टि से भेद नहीं है। इसलिए उपर्युक्त १५ भेदों में समानता है। इसीलिए तुरीय के प्रथम तीन भेदों के

सविशेष होने के कारण प्रत्येक के व्यष्टि आदि तीन भेद हैं।

प्रश्न—जैसे जाग्रत-जाग्रदादि अविकल्पानुज्ञैकरसान्त आत्मा के १५ भेदों में व्यष्टि आदि के अवान्तर भेद पाये जाते हैं; ऐसी ही तुर्य तुरीय के व्यष्टि आदि भेद भी होने चाहिएं।

उत्तर—तुर्य तुरीय व्यष्टि आदि सम्पूर्ण विभागों के अपवाद द्वारा सिद्ध होती है क्योंकि यह निष्प्रतियोगिक अविकल्पाविकल्प रूप है।

प्रश्न—परन्तु जाग्रत् जाग्रदादि पन्द्रह भेदों का तुर्य तुरीय से समानाधिकरण श्रुति में निर्देश है (अयमात्मा चतुष्पाद्), तो फिर तुर्य तुरीय अविकल्पाविकल्प कैसे हो सकती है?

उत्तर—जाग्रत् जाग्रदादि पन्द्रह भेदों में जो विकल्प स्पष्ट प्रतीत होते हैं, उन सब विकल्पों के बाध के द्वारा ही तुर्य तुर्य की उपलब्धि होती है। इसलिए यह तो निस्संदेह अविकल्प रूप ही है। पूर्वोक्त पन्द्रह भेदों का तुर्य तुर्य से बाध समानाधिकरण्य है।

प्रश्न—जाग्रत् आदि तीन अवस्थाएं तथा विश्व, विराट्, ओता आदि अवस्थाओं के अभिमानियों के समान ही तुरीय के प्रथम तीन भेदों को विकल्प रूप ही समझना चाहिए। क्योंकि इनमें व्यष्टि आदि के अवान्तर भेद रूप विकल्प विद्यमान हैं तथा जाग्रदादि प्रतियोगि रूप से भी विकल्प अथवा विशेष विद्यमान है।

उत्तर—नहीं! प्राण आदि सत्य के समान तथा व्यावहारिक सत्यता के समान तुरीय के प्रथम तीन भेदों में गौण (सापेक्ष) अविकल्पता संभव है।

आत्मा के प्रथम पादों तथा अवान्तर भेदों तथा अवस्था के अवान्तर भेदों में दो प्रकार के विकल्प हैं :—

(१) अभिधानवाचक रूप विकल्प—जैसे जाग्रत् आदि वाचक प्रधान अवस्था तथा विश्व आदि वाचक प्रधान अभिमानी; ये मुख्य जाग्रदादि भेद माण्डूक्य के समान ही हैं।

(२) व्यापार रूप विकल्प—जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा उनके अभिमानियों के व्यापार के आधार पर पुनः अवान्तर भेद किये गये हैं, जैसे जाग्रत् के अवान्तर चार भेद जाग्रत् (जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति, तथा तुर्य) तथा विश्व अभिमानी के अवान्तर भेद (विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुर्य) जैसे विश्व-विश्व आदि (क) इस दृष्टि से तीन अवस्थाओं के प्रथम तीन अवान्तर भेद तथा इनके अभिमानियों में उपर्युक्त अभिधान तथा व्यापार रूप दोनों विकल्प पाए जाते हैं, जैसे जाग्रत्-जाग्रत् आदि अवस्था के नौ भेद तथा अभिमानियों के विश्व-विश्व आदि सत्ताईस भेद अर्थात् सब मिला कर छत्तीस भेद।

(ख) और शेष अवस्था तथा अभिमानियों के अवान्तर भेद, यथा अवस्था भेद जाग्रत-तुर्य, स्वप्न तुर्य, सुषुप्ति तुर्य तथा तुर्य जाग्रत, तुर्य स्वप्न, तुर्य सुषुप्ति ये छः तथा अभिमानी भेद [(विश्व तुर्य, विराट् तुर्य ओता विकल्प), (तैजस तुर्य, सूत्र तुर्य अनुज्ञाताविकल्प), (प्राज्ञ तुर्य बीज तुर्य, अनुज्ञैक-रसाविकल्प)][1] तथा (तुरीय विश्व, तुर्य विराट्, तुरीयोता), (तुरीय तैजस, तुर्य सूत्र, तुर्यानुज्ञाता) (तुर्य प्राज्ञ, तुर्य बीजात्मा, तुर्य अनुज्ञैकरस) सब मिल कर चौबीस (६+(९+९) १८=२४)]

इस (ख) विभाग में अभिधान अथवा व्यापार का एक

ही विकल्प है, प्रथम (क) के समान अभिधान तथा व्यापार के दोनों विकल्प नहीं। इसलिए (ख) विभाग में विकल्प (विशेषण) विशिष्ट, अविकल्पता होने के कारण अविकल्पता गौण है। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में ऊपर निर्देश आया है सत्य का सत्य, वैसे ही उपर्युक्त चौबीस सापेक्ष अविकल्पों की दृष्टि से निरपेक्ष पारमार्थिक अविकल्प यह तुर्य तुरीय ही है। पूर्वोक्त पन्द्रह भेदों के सम्पूर्ण विकल्पों की तुर्य तुरीय में ही समाप्ति होती है। क्योंकि जाग्रत् जाग्रत् आदि अविकल्पानुज्ञैकरसान्त (६) विकल्पों के अपवाद के द्वारा सर्व वेदान्त प्रतिपाद्य तुर्य तुर्य, अखण्ड, चिन्मात्र आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है।

इस प्रकार विद्वान् की दृष्टि से पूर्वोक्त पंद्रह भेद भी सर्वाधिष्ठान तुर्य-तुर्य मात्र रूप से अवशेष रहते हैं। पूर्वोक्त पन्द्रह का बाध हो जाता है, और निष्प्रतियोगिक अद्वैत रूप से तुर्य-तुर्य शेष रहता है। इसलिए इस तुर्य तुर्य में व्यष्टि आदि भेद का विकल्प है अथवा नहीं, ऐसे भ्रम तथा उसके अपवाद का अवकाश नहीं है। आरोपित रूप के प्रतीत होने पर ही उसके बाध की चिन्ता संभव है। यहां तक पूर्वोक्त कथन का समर्थन हो चुका कि तुर्य-तुर्य की निष्प्रतियोगिक निर्विशेषता है तथा तुर्य सप्रतियेगिक निर्विशेष होने के कारण सविशेष ही है, इसलिए तुरीय के ही जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति रूपी तीन अवान्तर भेद हो सकते हैं।

अब तुर्य अवस्था के तीन भेदों का निरूपण करते हैं:—

(१) तुर्य जाग्रत्—बाह्य विषयादि भेद के विद्यमान काल में ही जब "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्य ३, ५) "यह सब दृश्य-

मान नाम रूपात्मक जगत् ब्रह्म ही है" तथा सत्तामात्रं ह्यीदं सर्वम्" (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्" ६,६) "(यह नामरूप केवल सन्मात्र (ब्रह्म) ही है नामरूपविशेष आरोपमात्र है।)" इत्यादि अनेक श्रुतियों के द्वारा संपूर्ण रूपादि भेद के बाध हो जाने से तदधिष्ठान, सन्मात्र रूप ब्रह्म को नयनादि से देखता है अर्थात् नयनादि से अनुभूत संपूर्ण नाम रूप प्रपञ्च को श्रुति के आधार पर बाध करते हुए शेष सन्मात्र ब्रह्म का अनुभव करता है, तो यह अवस्था तुर्य जाग्रत् कहलाती है, और इसके अभिमानी को व्यष्ट्यादि भेद से तुर्य विश्व, तुर्य विराट् तथा तुर्योता अथवा अविकल्पोता कहते हैं।

(२) तुर्य स्वप्न—जब "सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्रह्येव न विचिकित्स्यम्" (६-१७) निश्चित (आत्मा) अपरिछिन्न ब्रह्म ही है और ब्रह्म (प्रत्यक्षरूप) आत्मा ही है, इस विषय में यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं करना चाहिए"—इत्यादि श्रुति के आधार पर नेत्रादि व्यापार के उपरत होने पर मन की परिणाम-स्वरूप ब्रह्म साक्षात्कार रूप वृत्ति के द्वारा प्रत्यगात्मा तथा परब्रह्म की एकता का अनुभव करता है, तो इस अवस्था को तुर्य स्वप्न कहते हैं, और इसके अभिमानी को तुर्यतैजस, तुरीय-सूत्र तथा अविकल्पानुज्ञाता कहते हैं।

(३) तुर्य सुषुप्ति—जब विद्वान् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै. उ. २, १) "ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है" इत्यादि श्रुति के आधार पर ज्ञातादि त्रिपुटि के बाध के द्वारा "ब्रह्माहमस्मि" "मैं ब्रह्म हूँ" इस वृत्ति सहित अन्तःकरण के सरूप विलय से निर्विकल्प समाधि के वश हुआ, स्तब्ध के समान ठहरता है (अर्थात् पूर्वोक्त जाग्रदादि के अवान्तर सुषुप्ति भेद के समान स्तब्ध नहीं होता—

प्रत्युत द्वैत ग्रहण के अभाव मात्र में समानता है; क्योंकि यह अब ब्रह्मज्ञान रूप ही होता है. सामान्य शरीर की उपाधि शेष रहती है) तब इसे तुर्य-सुषुप्ति कहते हैं। और इसके अभिमानी को तुर्य-प्राज्ञ, तुर्य-बीजात्मा तथा अविकल्पानुज्ञैकरस कहते हैं।

यहां तक यह निरूपण हो चुका कि व्यष्टि समष्टि विभाग के अयोग्य तुर्य-तुर्य के सहित तुर्य के चार अवान्तर भेद हैं; अन्यथा तीन भेद हैं तुरीय जाग्रदादि, श्रुति में स्वयं ऐसा निर्देश है, क्योंकि पूर्वोक्त जाग्रदादि तीन अवस्थाओं के अवान्तर जाग्रदादि चार भेदों तथा उनके अभिमानियों में से प्रत्येक का तुर्य में पर्यवसान होता है। क्योंकि तुर्य जाग्रत् आदि विश्व आदि के अपवाद का अधिकरण हैं, इसलिए श्रुति के द्वारा उनका बाध हो जाने पर व्यष्टि समष्टि विभाग युक्त जाग्रदादि (अधिष्ठेय) आरोप की अपेक्षा से—त्रिविध होती है, तुर्य के जाग्रदादि तीन भेद तथा तुर्य जाग्रदादि के अभिमानियों के व्यष्टि आदि भेद से पुनः त्रिविध भेद होते हैं; परन्तु तुर्य तुर्य में सभी प्रकार के आरोप के अभाव होने के कारण, वह अधिकरण भी नहीं कहला सकता, इसलिए इस में किसी प्रकार का भेद असम्भव है—यही निष्प्रतियोगिक सन्मात्र है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। तुर्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में देहादि विकल्प व्यक्त, अव्यक्त तथा बीज रूप से रहता है, यद्यपि उसमें मिथ्यात्व बुद्धि होती है, परन्तु तुर्य तुर्य में इनका नितान्त अभाव है। यदि अज्ञानी की दृष्टि से इनका अस्तित्व माना जाए, तो परमार्थ दृष्टि से यह नाम रूप सर्व प्रपञ्च तुच्छ है; जैसे कहा है—"पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्" ६-६ विद्वान् की दृष्टि में सन्मात्र ही सब कुछ है, उस से भिन्न नाम रूप सब असत् है।

सार यह है कि जाग्रदादि तीन अवस्थाओं के चार ही भेदों में भेद-प्रतीति होती है, अर्थात् भेद (प्रपञ्च) प्रतीत होने पर उसमें सत्यत्व बुद्धि होती है; तुर्य में अभेद प्रतीति होती है, अर्थात् प्रपञ्च रूप भेद प्रातिभासिक (आरोपित) प्रतीत होता है। तुर्य तुर्य में भेद (जाग्रदादि प्रतीति) तथा अभेद (तुर्य प्रतीति) के अभाव की प्रतीति होती है अर्थात् केवल चिन्मात्र प्रतीत होता है, भेद तथा भेदाभाव से विशिष्ट प्रतीति नहीं होती। जाग्रदादि तथा तुर्य में विशिष्ट प्रतीति होती है। इसी रहस्य को कहा गया है—'ओतानुज्ञात्रनुज्ञा-विकल्पैः'' (तुर्यावस्था के जाग्रत् भेद का (तृतीय) (व्यष्टिसमष्ट्यैक्य) अभिमानी) तुरीय विश्व विराडैक्यात्मा रूप से (द्वैत प्रपञ्चानुगत) होने के कारण) ओता, तुर्य का प्रथम भेद है। (तुरीय अवस्था के स्वप्न भेद का अभिमानी) तुरीय तैजस सूत्रैक्यात्मा के रूप से प्रत्यक् तथा परब्रह्म की एकता का अनुमन्ता-अनुज्ञाता होता है, यह अनुज्ञाता तुरीय का द्वितीय भेद है।

(तुरीय सुषुप्ति का अभिमानी) तुरीय (प्राज्ञबीजैक्य) आत्मा के रूप से ज्ञानादि त्रिपुटि रहित चिदेकरस दृष्टि होने के कारण, अनुज्ञैकरस तुर्य का तृतीय भेद कहलाता है।

तुर्य (व्यष्टि समष्टयैक्य) विकल्प शून्य रूप से सर्व विकल्प के बाध के उपरान्त शेष रहने वाला, सर्व बाध की अवधि तुर्य तुर्य, अविकल्प-अविकल्प आत्मा पूर्वोक्त तीन आरोपित विभागों की अपेक्षा से तुर्य का चतुर्थ भेद है। इस प्रकार

(१) ओतृ (२) अनुज्ञातृ (३) अनुज्ञा (४) अविकल्प रूप से तुर्य चतुरात्मा (४ भेद वाला) है।

अथवा आचार्य विद्यारण्य मुनिकृत व्याख्या के अनुसार :— तुरीय के चतुरात्मत्व निर्देश पर यह प्रश्न होता है कि इन चार को तुर्य क्यों कहा जाता है। इसका उत्तर श्रुति में है :—

तुरीयावसितत्वादेकैकस्योतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पै :—यहां एक-एक के निर्देश में पूर्वोक्त उपनिषद् ब्रह्मयोगिकृत व्याख्या के अनुसार जाग्रदादि के तीन भेद लेकर तुरीय के तीन भेदों की व्याख्या नहीं की गई, यथा जाग्रदादि प्रत्येक अवस्था का उनके बाध द्वारा इनके अधिकरण तुर्य के प्रथम तीन भेदों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में अवसान होता है; प्रत्युत यह व्याख्यान किया गया है कि तुरीय के ओता अनुज्ञाता आदि चार भेदों का तुरीय में ही अवसान होता है; इसकी व्याख्या उपनिषद् के आठवें खण्ड में है, यहां उसके विस्तृत निरूपण की आवश्यकता नहीं उसे वहां ही देखना चाहिए।

प्रश्न—तुरीय के भी चार भेद हैं तो तुरीय में भी अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी।

उत्तर—त्रयमपि सुषुप्तं, स्वप्नं, मायामात्रं चिदेकरसोहि। (१-१० में प्रोक्त) जाग्रदादि अवस्थात्रय के अवान्तर भेद जाग्रदादि तथा उनके अभिमानी विश्व-विश्व आदि के समान तुरीयावस्था के प्रथम तीन भेद (तथा इनके अभिमानी) भी तुर्य तुरीय (परमार्थ) आत्मा के स्वरूप को आवरण करने के कारण तो सुषुप्ति ही हैं; तुर्य जाग्रदादि की प्रतीति परमार्थ दृष्टि

से प्रातिभासिक है—अर्थात् स्वप्न-माया-मात्र है; क्योंकि इसका यथार्थ स्वरूप चिदेक रस अर्थात् त्रिकालाबाध्य चिन्मात्र है।

व्याख्या—क्रियात्मिक साधना—

(१) सच्चिदानन्द रूप कारण (कार्य प्रपञ्च) साक्षी की सत्, चित्, आनन्द रूप से कारण (कार्य रूप प्रपञ्च-घट, घट ज्ञान, घट सुख) में व्याप्ति का चिन्तन (अर्थात् घट, पट नाम रूप के अध्यस्त माया मात्र रूप के चिन्तन के द्वारा शेष परमार्थ सत्-चित्-आनन्द रूप तुर्य तुर्य आत्मा में अवस्थान ही ओता है) ओतृयोग कहलाता है।

(२) साक्षी से व्याप्त कारण (कार्य नामरूप प्रपञ्च) की स्वतः सत्ता आदि का अभाव होने के कारण साक्षी के आधीन ही कारण, कार्य प्रपञ्च की सत्ता होने के कारण आत्मा में ये अध्यस्त हैं अतः ओतृयोग के द्वारा स्वरूप स्थिति से व्युत्थान होने पर, बाधित प्रपञ्च को माया मात्र समझ कर पुनः तुर्य तुर्य आत्मा में अवस्थान अनुज्ञातृयोग है।

(३) आत्मा में अध्यस्त कारण (कार्य प्रपञ्च) को आत्म (साक्षी) मात्र रूप से चिन्तन करना अनुज्ञैकरस योग कहलाता है। 'ओतम्' में 'त' का लोप करने से शेष ओम् ही रहता है, इसलिए ओंकार ओत ही है, इसलिए ओत (कारण व्याप्त) गुण विशिष्ट ब्रह्म की (ओत रूप) ओंकार के द्वारा उपलब्धि होती है। ओंकार का प्रयोग अनुज्ञातृत्व तथा अनुज्ञात्व में भी है। इसलिए अनुज्ञातृत्व तथा अनुज्ञैकरसत्व गुण विशिष्ट तुर्यात्मा के अनुज्ञाता तथा अनुज्ञैकरस रूप की अविभक्त ओंकार के द्वारा प्रतिपत्ति सम्भव है। ये तीन योग कारण की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए किञ्चित् उन्मुख कारण में ही इनका अन्त-

भाव होता है। इसीलिए इन तीन को सुषुप्त, स्वप्न माया मात्र कहा गया है। परन्तु इन तीन योगों में तुर्य की प्रधानता होती है; इसलिए कारण संहारक तुर्य में ही इनका अन्तर्भाव होता है। योगकाल में बुद्धि वृत्ति तुर्य प्रधान ही होती है—इसलिए तुर्यपाद रूप से इनका निर्देश उपयुक्त ही है। अर्थात् (१) सुषुप्ति, स्वप्न आदि तथा (२) तुर्य निर्देश दोनों उपपन्न ही हैं। इन योगों का विस्तृत विवरण ८म खण्ड में है, वहां देखना चाहिए।

तुरीय तुर्यादेश

अथायमादेशो, न स्थूलप्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, नप्रज्ञं नाप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनम् अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम-लक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमम् शिवम् शान्तम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ईश्वरग्रासस्तुर्यतुरीयः ॥१२॥

निष्प्रतियोगिक निर्विशेष आत्मा (पूर्वोक्त पन्द्रह भेद-निर्दिष्ट) संपूर्ण विशेषनिषेध के द्वारा निर्देश किया जाता है।

'अथ' के द्वारा इस उपदेश के अधिकार का निर्देश है, अर्थात तुरीय के तीन भेदों में आरूढ़ विद्वान् के लिए ही ईशादि १०८ उपनिषदें अखण्ड परमात्मा में आरोपित जाग्रद् जाग्रदादि अनुज्ञैकरसान्त पन्द्रह भेदों के अन्तर्गत संपूर्ण विशेष समूह विषयक नेति नेति रूपनिषेध (बाध) के द्वारा वाङ्मनसागोचरनिर्विशेष तत्व का आदेश करती हैं कि यह परमार्थ अद्वितीय तुरीय तुरीय आत्मा (१) न स्थूलप्रज्ञं=व्यष्टि समष्टि जागरण जागरण अभिमानी विश्व विश्व आदि

विराट्-विराट्, ओतोतृ के विकल्प से रहित है। (२) न सूक्ष्म-प्रज्ञं=व्यष्टि समष्टि जाग्रत् स्वप्न अभिमानी तैजस सूत्र आदि विकल्प से रहित है। (३) नोभयतः प्रज्ञं=अविद्या तथा आत्मा के प्रज्ञान से शून्य अर्थात्—(जाग्रत् तथा स्वप्न की अवस्था रहित जाग्रत् स्वप्न अन्तराल अवस्था) जाग्रत स्वाप अभिमानी विश्वप्राज्ञ आदि विकल्प से रहित है। (४) न प्रज्ञं= जाग्रत् जाग्रत आदि के भावाभाव की प्रकाशक प्रज्ञा के अभिमानी विश्वतुर्य आदि विकल्प से रहित है। (५) न अप्रज्ञं= स्वप्न जागरण अभिमानी, वहिः प्रज्ञा शून्य, तैजसविश्व आदि विकल्प से रहित है। (६) अदृश्यम्=स्वप्न स्वप्न अभिमानी चित्त कल्पित दृश्य मोहित तैजस सूत्र आदि विकल्प से रहित है। (७) न प्रज्ञानघनं=स्वप्न स्वाप अभिमानी (सर्व विषय अविवेक रूप प्रज्ञानघन) तैजस प्राज्ञ आदि विकल्प से रहित हैं। (८) अव्यवहार्यम्=स्वप्न तुरीय अभिमानी स्वप्न जागरण आदि के भावाभाव के प्रकाशक व्यवहार्य (तैजस) तुर्य आदि विकल्प रहित है। (९) अग्राह्यम्=स्वाप जागरण अभिमानी (स्वाज्ञान (आत्मा के अज्ञान की) वृत्ति ग्राह्य) प्राज्ञ विश्व आदि विकल्प से रहित है। (१०) अलक्षणम्=स्वाप स्वप्नाभिमानी (स्वाज्ञानवृत्तिलक्षण-वेद्य) प्राज्ञ तैजस आदि विकल्प से रहित है। (११) अचिन्त्यम्= मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा, इस परामर्श (स्मृति) रूप चिन्ता से जानने योग स्वापस्वाप अभिमानी प्राज्ञ-प्राज्ञ आदि-विकल्प से रहित है। (१२) अव्यपदेश्यम्=स्वापतुरीयावस्था अभिमानी (स्वापजाग्रदादि भावाभाव साक्षिता रूप व्यपदेश के योग्य) प्राज्ञ तुर्य आदि विकल्प से रहित है! (१३) एकात्म-

प्रत्ययसारम्=तुरीय जागरण अभिमानी (ध्याता आदि अनेक प्रत्ययसार द्वारा जानने योग्य) तुरीय विश्व आदि विकल्प से रहित है। (१४) प्रपञ्चोपशमम्=तुर्य स्वप्न अभिमानी (कभी कभी कुछ अशान्त प्रपञ्च वाले) तुरीय तैजस आदि विकल्प से रहित है। (१५) शान्तम्=तुर्य स्वाप अभिमानी (गुण साम्यावस्था-अशान्त) तुरीयप्राज्ञ आदि विकल्प से रहित है। (१६) शिवम्=(जाग्रत् जाग्रदादि अविकल्प अनुज्ञैकरसान्तरूप) अशिव अपवाद सिद्ध निष्प्रतियोगिक तुर्य तुर्य मात्र अवशेष लक्षण विदेह मुक्ति रूप हैं। इस लिए यह तुर्यतुर्यात्मा परम अद्वैतरूप है। पूर्वोक्त आरोपित जाग्रदादि आत्मा के तीनपादों की अपेक्षा से विद्वान् इसे चतुर्थ (तुरीय) मानते हैं अर्थात् परमार्थ दृष्टि से इसे चतुर्थ कहना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त तीन माया मात्र अथवा तुच्छ हैं। अथवा यह तुर्यतुर्य है। जाग्रदादि अधिष्ठेय सापेक्ष्य ही इसको अधिष्ठान अथवा तुर्य कहते हैं। परन्तु अधिष्ठेय के बाध अथवा निरोध हो जाने पर इसे अधिष्ठान भी नहीं कहा जा सकता। तब यह तुर्यतुर्य रूप से अवशेष रहता है।

यह चतुर्थपाद तुर्य तुर्य ही परमार्थ आत्मा है; उसको ही मुमुक्षु अथवा विद्वान् को जानना चाहिए। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय त्रिपुटि रूप भेद उस दशा में नहीं रहता तब, तो यह चिन्मात्र रूप से प्रकाशित होता है। इसी रहस्य को मानवीय द्वैत वाली भाषा में कहा गया है। अथवा जिज्ञासु की दृष्टि से ऐसा कहा गया है कि इसको जानना चाहिए। अन्यथा यह जानना आदि व्यवहार के अतीत है, जैसे कि ऊपर निर्देश किया गया है।

ईश्वरग्रासस्तुर्यस्तुरीयः

यह परमार्थ त्रिविध भेदरहित अखण्ड आत्म तत्त्व ही अनेक रूपों से भास रहा है। इसके परमार्थ स्वरूप को न जानने वाले अज्ञानी जन अपनी अविद्या के कारण इस परमार्थ तत्त्व को ही जीव, ईश तथा कार्य प्रपंच रूप से देखते हैं। आत्मज्ञ जन इसको जीव, ईश्वर तथा प्रपञ्च का (ग्रास करने वाला) संहारक समझते हैं; अर्थात् ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर तथा ब्रह्मविद्वरीयान् की इस सम्पूर्ण भेद में अभेद दृष्टि होती है; और परमार्थज्ञ ब्रह्मविद्वरिष्ठ इसे निष्प्रतियोगिक तुर्य तुर्य रूप से जानते हैं। अथवा इस श्रुति का माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार आत्मा के चार पादों के अवान्तर भेदों को दृष्टि में न रख कर अर्थ किया जा सकता है। यथा :—

तुर्य के तीन पादों के मिथ्यात्व के निरूपण के पश्चात्, तुर्य का चतुर्थ भेद जो परम निर्विशेष अखण्ड तत्त्व होने के कारण वाङ्मनसागोचर है, उसका निषेध मुख से अर्थात् सर्वविशेषणों के निषेध द्वारा निरूपण करते हैं :—

न स्थूलप्रज्ञम्—जाग्रदवस्था तथा उसके अभिमानियों विश्वादि का निषेध है।

न सूक्ष्मप्रज्ञम्—स्वप्नावस्था तथा उसके अभिमानियों तैजस आदि का निषेध है।

नोभयतःप्रज्ञम्—जाग्रत् स्वप्न के मध्य की अवस्था तथा उसके अभिमानियों का निषेध है।

नप्रज्ञम्—सामान्य ज्ञान अथवा युगपत् संपूर्ण ज्ञान का निषेध है।

नाप्रज्ञम्—अचैतन्य का निषेध है।

न प्रज्ञानघनम्—सुषुप्ति का निषेध है।

अदृष्टम्-अदृश्यम्—चक्षु के विषय होने का निषेध है।

अव्यवहार्यम्—सम्पूर्ण व्यवहार का निषेध है। किसी व्यवहार-व्यापार का विषय नहीं है।

अग्राह्यम्—कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं है।

अलक्षणम्—लिंगरहित होने के कारण अनुमान का विषय नहीं है।

इसलिए अचिन्त्य है, तथा अव्यपदेश्य है, क्योंकि जिस विषय का कुछ चिन्तन हो सकता है उसका ही निरूपण हो सकता है। परन्तु इस सर्वनिषेध का यह अभिप्राय नहीं कि प्रमाण का अभाव होने के कारण वह तत्त्व है ही नहीं, क्योंकि जाग्रदादि अवस्थाओं के परिवर्तन होने पर भी एक अव्यभिचारी आत्मप्रत्यय द्वारा इस तत्त्व का बोध होता है। इन अवस्थाओं के अन्वय-व्यतिरेक विचार से इसका बोध होता है; अर्थात् उपर्युक्त 'न स्थूलम्' आदि निषेधों के द्वारा तत् तत्-व्यभिचारी विशेष मात्र का निषेध है, तदधिष्ठान निर्विशेष आत्मा का निषेध नहीं। यहां अव्यवहार्य-अदृष्ट आदि के द्वारा व्यवहार्य आदि के निर्देश से व्यवहार्य आदि के अधिष्ठान का निर्देश किया गया है, अर्थात् अव्यवहार्य आदि तथा न स्थूल आदि व्यवहार्य तथा स्थूल से नितान्त पृथक् नहीं है। व्यवहार्य, स्थूल आदि के अधिष्ठान के रूप में वह व्यवहार्य आदि में विद्यमान है अथवा अव्यवहार्य ही व्यवहार्य रूप से प्रतीत हो रहा है, अर्थात् प्रत्येक व्यभिचारी अंश का निषेध-

बाध है; अव्यभिचारी का बाध नहीं है; और न ही सम्पूर्ण अवस्थाओं तथा पदार्थों में विद्यमान ऐसे तत्त्व का बाध बन सकता है। यहां निषेध से अभिप्राय बाध से ही है। क्योंकि स्थूल आदि कहीं अधिष्ठान आत्मा के बिना स्वतन्त्र तो अस्तित्व नहीं रखते। जाग्रत् अवस्था के सम्पूर्ण देह, इन्द्रिय तथा विषय अभिमानी रूप से अथवा अभिमानी के सम्बन्धी रूप से ही प्रतीत होते हैं। स्थूल आदि धर्मों का व्यभिचार होने के कारण ये अव्यभिचारी आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। इसलिए केवल इनका सम्बन्ध ही मिथ्या नहीं प्रत्युत जाग्रदादि अवस्थाएं ही मिथ्या हैं। क्योंकि आत्मा से भिन्न इनका स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं।

प्रपञ्चोपशमम्—जाग्रदादि अवस्थाओं के धर्मरूप प्रपञ्च का भी निषेध है। यह ही शान्त (कल्पना विकाररहित) शिव (निरुपद्रव-सुख स्वरूप) तथा त्रिविध भेद शून्य-अद्वैत है। यह ही आत्मा का परमार्थ स्वरूप है। इसे ही मुमुक्षु को जानना चाहिए। यह तुर्यात्मा कारणात्मा ईश्वर को भी संहार (ग्रास) करने वाला है। इसलिए यह तुर्य तुर्य ही परमार्थ ईश्वर है। इसलिए इसी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।



द्वितीय खण्ड

खण्ड की संगति—उत्तम अधिकारी के लिए आत्मा के चार पादों तथा इनके अवान्तर भेदों के द्वारा तुर्य तुर्य (परमार्थ अखण्डात्म तत्त्व) का निरूपण प्रथम खण्ड में किया गया है। अब द्वितीय खण्ड में मुख्यतया मध्यम अधिकारी के लिए आत्मा के पादों तथा ओंकार की मात्राओं की एकता के द्वारा तुर्य तुर्य तत्त्व की प्रतिपत्ति के उपाय का वर्णन करते हैं।

तं वा एतमात्मानं जाग्रत्यस्वप्नमसुषुप्तं, स्वप्नेऽजाग्रतमसुषुप्तं, सुषुप्तेऽजाग्रतमस्वप्नं, तुर्येऽजाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तमव्यभिचारिणं नित्यानन्दं सदेकरसं ह्येव ॥ १ ॥

चक्षुषो द्रष्टा, श्रोत्रस्य द्रष्टा, वाचो द्रष्टा, मनसो द्रष्टा, बुद्धेर्द्रष्टा, प्राणस्य द्रष्टा, तमसो द्रष्टा, सर्वस्य द्रष्टा, ततः सर्वस्मादन्यो विलक्षणः ॥ २ ॥

चक्षुषो साक्षी, श्रोत्रस्य साक्षी, वाचः साक्षी, मनसः साक्षी, बुद्धेः साक्षी, प्राणस्य साक्षी, तमसः साक्षी, सर्वस्य साक्षी, ततोऽविक्रियो, महाचैतन्यो, अस्मात् सर्वस्मात् प्रियतम आनन्दघनं, ह्येतस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातमेकरसमेवाजरममृतमभयं ब्रह्मैव ॥ ३ ॥

संगति—पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक शैली का ही अत्यन्त स्पष्ट रूप से अनुसरण करते हुए प्रथम तीन वाक्यों में उत्तम अधिकारी के लिए अखण्ड आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।

तुरीय तुरीयात्मा जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के भेदों के विद्यमान काल में तुरीय (के प्रथम तीन भेद) रूप से प्रतीत हो रहा है (क्योंकि तुर्य तुर्य (आत्मा) वाङ्मनसागोचर है। उसका यत्किञ्चिदादेश जाग्रदादि आरोप के आधार पर ही हो सकता है) जाग्रत् अवस्था में भी जो स्वप्न, सुषुप्ति कलना शून्य रूप से विद्यमान है, जो जाग्रत् के भाव तथा स्वप्न, सुषुप्ति के अभाव का साक्षी है, अर्थात् स्वप्न, सुषुप्ति से भिन्न है। ऐसे ही स्वप्न में जाग्रत-सुषुप्ति से भिन्न इनके भाव-अभाव का साक्षी है, तथा सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्न से भिन्न इनके अभाव का साक्षी, तथा तुर्य, में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से भिन्न तथा इन तीन के अभाव का साक्षी है; तुर्य में इन तीनों का अभाव हो जाता है। इसलिए यह कहना उपयुक्त नहीं कि जाग्रत में स्वप्न तथा सुषुप्ति के अभाव का साक्षी जाग्रदात्मा ही है। इसके अतिरिक्त जाग्रत् आदि स्वप्न आदि अवस्थाओं में शेष नहीं रहते; अतः जाग्रदादि के पन्द्रह भेद परस्पर व्यभिचारी हैं, परन्तु तुर्य अव्यभिचारी है, वही नित्य है (अवस्थात्रय में अनुस्यूत होने के कारण) अनन्त (सब अवस्थाओं में अधिष्ठान रूप से व्यापक होने के कारण) परमार्थ सत एक रस है। ॥ १ ॥

इसी प्रकार चक्षु (श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों) मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण का, प्राण, अज्ञान, तथा अन्य सर्व का द्रष्टा होने के

कारण श्रोत्र आदि के व्यभिचारी होने पर भी इनका प्रकाशक अव्यभिचारी नित्य तथा इन सब से विलक्षण है, तुर्य तुर्य इनके करणों तथा इनके विषयों से भिन्न है ॥२॥

यह तुर्य तुर्य चक्षु आदि सर्व का साक्षी होने के कारण असंग, अविक्रिय तथा अव्यभिचारी है, महान् चैतन्य है, अर्थात् इनके प्रकाश, उदय, अस्त के भाव से रहित, नित्य है, तथा सबसे अधिक प्रिय है, इसलिए आनन्द रूप है। इन सब से पूर्व प्रकाशमान, एकरस, अजर, अमर, अभय रूप ब्रह्म ही है ॥३॥

भाव यह है कि जाग्रदादि चार अवस्थाएं मन की ही हैं; क्योंकि मन आदि का द्रष्टा इन से भिन्न है। दुःख-सुखविकार आदि युक्त चेतन आत्मा नहीं, प्रत्युत मन आदि का साक्षी, उनके विकारों से अप्रभावित तथा असंग है; असंगात्मा भी परम ध्येय रूप नहीं हो सकता, क्योंकि प्राणी का इष्ट सुख है। परन्तु आत्मा प्रियतम रूप है, अतः परमानन्द स्वरूप भी है। स्वयं प्रकाशमान होने के कारण इस में त्रिपुटी की आवश्यकता नहीं; अतः यह सर्वविध भेद शून्य अद्वितीय है।

मध्यम अधिकारी के लिए उपदेश

ओंकार और आत्मा के एकीकरण की विधि

संगति—प्रथमखण्ड तथा २, १–३ में परम तत्त्वविषयक वेदान्त सिद्धान्त को युक्तिसहित सार रूप से वर्णन कर दिया है कि (१) जाग्रदादि तीन अवस्थाओं तथा उनके धर्म स्थूल देह आदि से अलिप्त अखण्ड, तुर्य तुर्य चिन्मात्र आत्मा ही परमार्थ सत्य है, अन्य सर्व मिथ्या, स्वप्न तथा तुच्छ है। (२) क्योंकि जाग्रत् जाग्रदादि अनुज्ञैकरसान्त रूप आत्मभेदों

का व्यभिचार होता है तथा तुर्य-तुर्यात्मा इन सर्व में अनुस्यूत होने के कारण इसका व्यभिचार नहीं है। यह अन्वयव्यतिरेक रूपी युक्ति वेदान्त सिद्धान्त की आधार शिला है। (३) आत्मा-चक्षु आदि का द्रष्टा होने के कारण, चक्षु आदि करण तथा उनके विषय रूप आदि से भिन्न है तथा स्वयंप्रकाश है। (४) साक्षी होने के कारण अविक्रिय, असंग है। (५) प्रियतम होने के कारण दुःख कालिमा से रहित परम आनन्द स्वरूप है। इसलिए मनुष्य अपने परमार्थ स्वरूप के ज्ञान से कृतकृत्य हो जाता है।

इस संक्षिप्त विचारशैली से सूक्ष्म एकाग्र बुद्धि तथा वासना-शून्य शुद्ध मन सम्पन्न उत्तम जिज्ञासु को आत्म विषयक यथार्थ ज्ञान हो जाता है। परन्तु जो मध्यम अधिकारी है, जिनके मन तथा बुद्धि में अस्वच्छता का कुछ अधिक लेश शेष है; उन्हें उपर्युक्त सार रूप विवेचन से तत्त्व हृदयङ्गम नहीं होता। उनकी अस्वच्छता तथा विक्षेप की निवृत्ति के लिए ओंकार के द्वारा आत्म-चिन्तन का अभ्यास करने के लिए ओंकार की मात्राओं तथा आत्मा के पूर्वोक्त पादों के एकीकरण की विधि बताते हैं।

अप्यजयैनं चतुष्पादं मात्राभिरोंकारेण चैकी कुर्यात् ॥४॥

परमार्थ दृष्टि में ब्रह्मस्वरूप तुर्य तुर्य आत्मा के त्रिविध भेद रहित होने के कारण इसके पाद उपयुक्त नहीं। परन्तु अज्ञानी की दृष्टि के अनुसार अनादि अविद्या (अज्ञान) के कारण ही आत्मा के चार पादों का निर्देश संभव है। अतः पूर्वोक्त

चार पाद वाले अध्यात्म तथा अधिदैव, आत्मा का अकार आदि मात्रा सहित ओंकार के साथ शास्त्रोक्त विधि से एकत्व करना चाहिए। उस विधि का आगे निर्देश करते हैं।

अकार मात्रा तथा आत्मा के प्रथम पाद का अभेद

जगरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोकार-एव। चतूरूपोह्ययमकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरकार-रूपैराप्तेरादिमत्त्वाद्वा स्थूलत्वात्, सूक्ष्मत्वात्, बीजत्वात्, साक्षित्वाच्च, आप्नोति ह वा इदं सर्वमादिश्च भवति य एवं वेद ॥५॥

१,६ में जाग्रत् स्थान के अभिमानी विश्ववैश्वानर रूप आत्मा के चार भेदों का निरूपण हो चुका है। प्रत्येक अवस्था में आत्मा के स्थूल, सूक्ष्म, बीज, साक्षिभाव रूप अवान्तर चार भेद हैं। इन चार अवान्तर भेदों वाला विश्ववैश्वानर रूप आत्मा का प्रथम पाद वैखरी आदि अवान्तर चार भेदों वाला अकार ही है। अकार के भेद हैं:–स्थूल, सूक्ष्म, बीज, साक्षिभावापन्न वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, तथा परा अथवा बीज, बिन्दु, नाद शक्ति रूप। आत्मा के प्रथम पाद के चार अवान्तर भेदों की अकार के चार अवान्तर भेदों के साथ एकता में हेतुओं का निर्देश करते हैं

(१) व्याप्ति:—अकार सम्पूर्ण वाक् में व्याप्त है। यथा "अकारो वै सर्वा वाक्" (श्रुति) "सम्पूर्ण वाक् अकार ही है।" इस प्रकार विश्व वैश्वानर रूप आत्मा सर्व पदार्थों में व्याप्त है। इसलिए व्याप्ति की समानता से 'अ' तथा आत्मा के प्रथम पाद का एकत्व है।

(२) आदिमत्त्वात्:— अकार मात्रा ओंकार की आदि मात्रा है, इसी प्रकार विश्व वैराज, आत्मा के पादों में प्रथम पाद है। इसलिए अकार तथा प्रथम पाद की एकता में प्रथमता की समानता हेतु है।

(३) स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात् साक्षित्वाच्च—अकार तथा प्रथम पाद की एकता में उपर्युक्त दो हेतु देने के पश्चात् इनके अवान्तर भेदों के एकत्व में हेतु देते हैं:—

ओंकार के वैखरी आदि चार भेद स्थूल, सूक्ष्म आदि रूप हैं। इसी प्रकार प्रथम पाद विश्व वैश्वानर के चार भेद भी स्थूल, सूक्ष्म आदि व्यापार भेद से स्थूल, सूक्ष्म आदि ही हैं। वैखरी आदि के स्थूल, सूक्ष्म आदि तारतम्य का निर्देश १,२ में हो चुका है और पादों के अवान्तर भेदों के स्थूल, सूक्ष्म आदि तारतम्य का निर्देश १,६ में हो चुका है।

विज्ञान का फल—आत्मा के प्रथम पाद तथा ओंकार की प्रथम मात्रा के एकत्त्व को जानने वाले के फल का निर्देश करते हैं। अन्य पादों तथा मात्राओं के एकत्त्व ज्ञान के सहित प्रथम पाद तथा प्रथम मात्रा के एकत्त्व ज्ञान का परम फल तो तुर्यतुर्य आत्मस्वरूप की प्रतिपत्ति है। परन्तु केवल प्रथम मात्रा तथा प्रथम पाद के एकत्व ज्ञान का अवान्तर फल यह है कि इस विज्ञान का अभ्यासी सम्पूर्ण भोग को प्राप्त होता है तथा जगत् में प्रधान होता है। भोग, ऐश्वर्य तथा मान को प्राप्त करता है। उपास्य देवता के अनुरूप ही उपासक को फल प्राप्त होता है।

'उ' कार तथा २य पाद का अभेद

स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भश्चतूरूप

उकार एव। चतुरूपो ह्ययमुकारः। स्थूलसूक्ष्मबीज-साक्षिभिरुकाररूपैरुत्कर्षादुभयत्वात्, स्थूलत्वात्, सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात् साक्षित्वाच्चोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं, समानश्च भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

स्वप्न स्थान के अभिमानी तैजस तथा हिरण्यगर्भ के चार अवान्तर भेद हैं। यह दूसरा पाद चतूरूप उकार ही है, क्योंकि उकार के भी स्थूल, सूक्ष्म, बीज साक्षी चार अवान्तर रूप हैं।

उकार तथा आत्मा के द्वितीय पाद की समानता में ये हेतु हैः—

(१) उत्कर्षात—उकार दूसरी मात्रा अकार से अधिक है, प्रणव के उच्चारण से ऐसा प्रतीत होता है कि अकार का ऊर्ध्व आकर्षण किया जाता है। ऐसे ही आत्मा के द्वितीय पाद अर्थात् सूक्ष्म के अभिमानी का, प्रथम पाद अर्थात् स्थूल के अभिमानी से उत्तम होना स्पष्ट तथा उपयुक्त ही है।

(२) उभयत्वात्—अकार, मकार के मध्य में उकार है, तथा विश्व प्राज्ञ के मध्य में तैजस है, इसलिए मध्य में स्थिति के कारण इनमें समानता है।

(३) स्थूलत्वात् आदि—पूर्व (प्रथम पादान्तर्गत) के समान ही तथा दूसरे पाद और उकार के प्रत्येक भेद की समानता का निर्देश है।

उपर्युक्त विज्ञान का फलः—(१) यह विज्ञान ज्ञानसंतति (अंग) की वृद्धि करता है। (२) शत्रु तथा मित्र के पक्ष में समान (निष्पक्ष) होता है। (३) एकत्व के ज्ञान का यह फल होता है कि ऐसे विज्ञानी के कुल अर्थात् शिष्य परम्परा में

कोई भी इस विज्ञान से रहित नहीं होता; अर्थात् वह इस विज्ञान के उपदेश में समर्थ होता है। (माण्डूक्य०)

मकार तथा तृतीय पाद का अभेद

सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतूरूपो मकार एव चतूरूपो ह्ययं मकारः। स्थूलसूक्ष्मसाक्षिभिर्मकार-रूपैर्मितेरपीतेर्वा स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वात् बीजत्वात् साक्षित्वाच्च मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ७॥

आत्मा का यह पाद, सुषुप्ति स्थान का अभिमानी प्राज्ञ-ईश्वर ४ अवान्तर भेदों वाला, ४ रूपों वाला मकार ही है, क्योंकि इस मकार के स्थूल, सूक्ष्म बीज तथा साक्षी चार रूप हैं।

इनकी एकता में निम्नलिखित हेतु हैं:—

(१) मिते:—प्राज्ञ, विश्व तथा तैजस का मान—माप है जैसे यव का प्रस्थ मान होता है; क्योंकि विश्व तैजस के विलय के समय प्राज्ञ में ही प्रवेश होता है। तथा इनकी पुनः उत्पत्ति के समय विश्व तैजस का प्राज्ञ से ही उद्‌गम होता है। ठीक इसी प्रकार मकार, अकार तथा उकार का मान है। क्योंकि ओंकार के निरन्तर उच्चारण के समय अ तथा उ का म में प्रवेश तथा निर्गम होता है। इसलिए मकार में अकार उकार के तथा प्राज्ञ में विश्वतैजस के मान की समानता होने के कारण, मकार तथा प्राज्ञ में एकता है।

(२) अपीते:—अपीति:—एकीभाव—ओंकार के उच्चारण के समय अकार तथा उकार का मकार में एकीभाव हो जाता है। इसी प्रकार विश्वतैजस का आत्मपादों का प्राज्ञ में एकीभाव

हो जाता है। प्राज्ञ तृतीयपाद के वर्णन में एकीभूत होने का निर्देश भी मिलता है। इसलिए इस एकीभाव की समानता से मकार तथा प्राज्ञ की एकता है।

(३) स्थूलत्वात्……जैसे उपर्युक्त दो हेतुओं से मकार तथा प्राज्ञ की एकता का निर्देश है। इस हेतु से प्रत्येक मात्रा तथा पाद के भिन्न-भिन्न विभागों की एकता में स्थूल आदि समानता का निर्देश है।

विज्ञान का फल:—प्राज्ञ तथा मकार की गुणों की समानता के कारण इनकी एकता के चिन्तन रूप अभ्यास द्वारा इसका साक्षात्कार करने वाला विद्वान् मानादि की समानता के ज्ञान के अनुसार फल को पाता है अर्थात्:

(१) चराचर जगत् अथवा जाग्रत्, स्वप्न अवस्थाओं के अभिमानी विश्व तैजस के तथ्य स्वरूप को जानता है। अन्य-जनों का सांसारिक ज्ञान यथार्थ नहीं है। ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा ऐसे अभ्यासी अथवा योगी को संसार के (क) व्यावहारिक तथा (ख) पारमार्थिक स्वरूप का संपूर्ण तथा यथावत् ज्ञान होता है; अन्यों को पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान तो होता ही नहीं, और व्यावहारिक ज्ञान भी अल्प, अपूर्ण तथा अयथार्थ होता है।

(२) जगत् का कारणात्मा बनता है अर्थात् महान् यौगिक ऐश्वर्य का स्वामी होता है।

(३) अन्य मात्रा तथा पादों की एकता के विज्ञान के सहित इसका प्रधान मुख्यफल आत्मस्वरूप की प्रतिपत्ति है।

तीन मात्रा तथा पादों के क्रमशः एकीकरण की विधि

मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कुर्यात् ॥ ८ ॥

मात्रा तथा अमात्रा को प्रतिमात्रा में विलय करें

मात्रा=अकारादि, अमात्राः=अर्धमात्रा प्रतिमात्रा=

उकारादि, अकार की प्रतिमात्रा उकार है, क्योंकि अकार के प्रतिलोम्य रूप से उकार अकार का संहारिक है अर्थात् संहारक्रम से अथवा उच्चारण में अ का उ में विलय होता है। ऐसे ही उकार की मकार प्रतिमात्रा है, तथा मकार का तुर्य प्रणव अमात्र अर्धमात्र प्रतिमात्रा है।

(क) विद्यारण्य मुनिद्वारा निर्दिष्ट मात्रा के प्रतिमात्रा से एकीकरण की संक्षिप्त विधि ;

(१) अकार विराट् का वाचक है अतः अकार के उच्चारण के समय अकार वृत्ति आरूढ विराट् का चिन्तन करें।

(२) उकार के उच्चारण के समय, उकार वृत्ति आरूढ़ हिरण्यगर्भ विराट् के कारण का चिन्तन करें। तथा विराट् को कारण हिरण्य गर्भ रूपमात्र से उसमें विलय कर दे।

(३) मकार के उच्चारण के समय, मकार वृत्ति आरूढ मकार के वाच्य हिरण्यगर्भ के कारण प्राज्ञ का चिन्तन करें, हिरण्यगर्भ को भी (कारण) प्राज्ञरूप मात्र से प्राज्ञ में विलय करदें।

(४) इस प्रकार स्वयं प्राज्ञ ईश्वररूप से स्थित हो।

(ख) 'उपनिषद् ब्रह्मयोगी' द्वारा निर्दिष्ट द्वितीय विधि।

(१) व्यष्टि समष्टि की एकता (२) वाच्य वाचक की एकता= तावत् मात्रता (३) तथा पादों तथा मात्राओं के अवान्तर भेदों की एकता के ज्ञान द्वारा दृश्य को विलय करे।

विलय प्रकार

१. (क) जाग्रदवस्था में, दृश्य-बाध (विलय) के लिए (साधिभूत) व्यष्टि आत्मा के चतुर्विध भेद विश्वविश्व आदि की (अधिदैव) समष्टि आत्मा के चतुर्विध भेद विराट्-विराट् आदि से एकता के द्वारा उनमें लय करदें।

(ख) पुनः विराट् आदि चतुर्विधभेद विराट्-विराट् आदि को उनके वाचक अकार के चतुर्विध भेद वैखरी आदि अथवा स्थूल आदि मात्रा रूप से अकार के भेदों में लय कर दें।

(ग) पुनः स्थूल-वैखरी-अकार को सूक्ष्म-मध्यमा-अकार में लय करे, सूक्ष्म को कारण में और कारण को साक्षी अकार में लय करे।

(२) उपर्युक्त क, ख, ग क्रम से व्यष्टितैजस को समष्टि हिरण्यगर्भ में समष्टि को चार भेद युक्त उकार में, तथा उकार के पूर्वोक्त तीन भेदों को क्रमशः साक्षी उकार में लय करे।

(३) इसी प्रकार प्राज्ञ तथा ईश्वर (बीजात्मा) को साक्षी मकार में लय करे।

(४) और साक्षी को उकार साक्षी में और उकार साक्षी को मकार साक्षी में लय करे। इस प्रकार मात्रा अमात्रा हो जाती है।

आत्मा का तुर्य चतुर्थ पाद

अथ तुरीय ईश्वरग्रासः स स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशश्चतुरात्मोताअनुज्ञात्रनुज्ञा विकल्पैः। ओतो ह्ययमात्मा ह्यथैवेदं सर्वमन्तकाले कालाग्निः सूर्योस्त्रैः। अनुज्ञातो ह्ययमात्मा ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानं ददातीदं सर्वं स्वात्मानमेव करोति यथा तमः सविता। अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा चिद्रूप एव यथा दाह्यं दग्ध्वाऽग्निः ॥८॥

संगति—मात्राप्रतिमात्रा एकीकरण के अनन्तर प्राज्ञ अथवा मकार विलयार्थ ४र्थ पाद का वर्णन करते हैं।

तुरीयात्मा मकार मात्रा से अभिन्न कारणात्मा—ईश्वर—को ग्रस लेता है, अपने भीतर लीन कर लेता है। परन्तु इस को अन्य कोई नहीं ग्रसता, क्योंकि यह स्वराट् (साधन निरपेक्ष-स्वतन्त्र-चिन्मात्र है। तथा स्वयं पारमार्थिक चिन्मात्र है, यह स्वयं प्रकाश स्वरूप है। अतः इसे किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। इस तुर्यात्मा के चार अवान्तर रूप हैं—ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञैकरस, अविकल्प—इनमें से प्रत्येक के स्वरूप का यूं निर्देश है—

(१) तुर्य-(जाग्रत्)—(यह आत्मा) ओता=व्यापक है, यद्यपि सूर्य इस संपूर्ण मूर्तमय जगत् को इस समय की अपनी किरणों द्वारा व्याप रहा है, तथापि प्रपञ्च के अन्तकाल में सर्वविनाशकारी कालाग्नि रूप सूर्य पाताल से आरम्भ करके संपूर्ण ब्रह्माण्ड को उपसंहार करने में प्रवृत्त इस जगत् को निज किरणों द्वारा व्याप्त कर लेता है (निःशेष भस्म कर देता है), इसी प्रकार यह तुर्यात्मा सच्चिद् रश्मियों द्वारा सम्पूर्ण (नाम-रूप) जगत् को आत्ममात्र रूप से संहार करने के लिए सर्वत्र (सत्, चिद् रूपेण) व्याप्त है, घटसन्-घटज्ञान।

(२) तुर्य (स्वप्न) का अभिमानी (आधार) आत्मा अनुज्ञाता है, क्योंकि यह 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' आदि महा वाक्यों के आधार पर 'मैं प्रत्यगभिन्न ब्रह्म हूँ' ऐसी आत्मविषय में अनुज्ञा रखता है। घटादि के समान सर्व पदार्थ घट-सन्, घट-ज्ञान, रूप से भास रहा है, यह घट आदि में सत्ता आदि का भान स्वतः नहीं है, यह आत्मा ही निज पारमार्थिक सत्ता आदि को सर्व जगत् को प्रदान करता है, जिस के कारण संपूर्ण जगत् सदादि रूप से प्रतीत होता है। परन्तु इस व्यव-

हार में आत्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप का ह्रास नहीं होता, क्योंकि यह आत्मा में अध्यस्त होने के कारण, आत्मा इनको आत्मसात् करता है, जैसे उलूक आदि द्वारा सूर्य में अध्यस्त तम को सूर्य स्वात्मसात् करता है।

(३) तुर्य (सुषुप्ति) का आधार तुर्य विश्वादि आत्मा अनुज्ञैकरस कहलाता है, क्योंकि यह जाग्रद् जाग्रदादि अवि-कल्प अनुज्ञैकरसान्त १५ कलनाओं के अपवाद की अनुज्ञा (स्वीकृति) देकर स्वयं अखण्ड एकरस तुर्यतुर्य के अभिमुख (सम्मुख) होता है।

यह आत्मा चिद्रूप ही है, इस में दृष्टान्त

जैसे अग्नि काष्ठादि को भस्म करके स्वयं निर्विशेष अग्नि रूप से विद्यमान रहती है, ऐसे ही आत्मा में अध्यस्त सम्पूर्ण जगत् को आत्मबोध के द्वारा आत्म-मात्र जान कर यह चिदेक रस रूप (अपने पारमार्थिक स्वरूप) में अवस्थान करता है। तुर्य (जागरण तथा स्वप्न) सधूम अग्नि ज्वाला के समान है। और तुर्य सुषुप्ति अंगार के शर(तार)के समान निर्विकल्पक रूप है॥८॥

तुर्य तुर्य पाद

अविकल्पो ह्ययमात्मा वाङ्मनोऽगोचरत्वाच्चिद्रूपश्च-तूरूप ओंकार एव। चतूरूपो ह्ययमोंकारः। ओतानुज्ञात्रनु-ज्ञाऽविकल्पैरोंकाररूपैः। आत्मैव नाम रूपात्मकं हीदं सर्वं तुरीयत्वात् चिद्रूपत्वाच्च ओतत्वात् अनुज्ञातृत्वात् अनु-ज्ञानत्वात् अविकल्परूपत्वाच्च। अविकल्परूपं हीदं सर्वं नैव तत्र काचन भिदाऽस्ति॥ ९॥

पूर्व वाक्य में तुर्य के प्रथम तीन भेदों ओतादि के निरूपण के अनन्तर, तुर्य के ४र्थ भेद तुर्य तुर्य अथवा अविकल्पाविकल्प का निरूपण करते हैं, कि यह आत्मा अविकल्प रूप (पूर्वोक्त तुर्य सुषुप्ति के दृष्टान्त शराङ्गार से अंगार आदि भाव से रहित अग्नि सामान्य-निर्विशेष रूप) है; अर्थात् आत्मा का तुर्य तुर्य स्वरूप इसका पारमार्थिक अविकल्पाविकल्प रूप है, सर्व प्रकार के विकल्पों से रहित है। तुर्य के पूर्वोक्त तीन भेदों में विकल्प की कुछ कालिमा रहती है। क्योंकि (अथवा इसी लिए) यह वाङ्मनसागोचर है। क्योंकि वाङ् और मन की विशेष—नाम रूप तक ही गति है। परन्तु तुर्य तुर्यात्मा चिन्मात्र रूप है।

तुर्यवाचक ओंकार के चार भेद

अब आत्मा के तुर्यपाद का ओंकार की तुर्य मात्रा, अर्धमात्रा, अमात्रा से एकत्व का प्रतिपादन करते हैं।

इस प्रकार यह चतुरूप तुर्यात्मा चतुरूप ओंकार (अर्धमात्रा) ही है। ओंकार (अमात्र) के भी चार भेद हैं, ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञैकरस, अविकल्प (८वें खण्ड में इसका सविस्तर निरूपण है। वाचक तथा वाच्य का विमर्श प्रत्यवमर्श रूप (Thought corresponding thought) रूप संबंध है। वाचक के चतुरूपत्व के बिना वाच्य का चतुरूपत्व असम्भव है। क्योंकि आत्मा के चार भेद हैं, अतः ओंकार के भी चार भेद होना अनिवार्य है; क्योंकि यह सब कुछ नाम रूपात्मक ही है, अर्थात् नाम-वाचक तथा रूपवाच्य का अविनाभाव सम्बन्ध है।

तुर्य पाद तथा तुर्य ओंकार की एकता में हेतु

(१) तुर्यत्व—यह पाद तथा मात्रा तुर्य है।

(२) चिद्रूपत्वात्—आत्मा तथा ओंकार की ४र्थ मात्रा चिद्रूप है, ओंकार चिद्रूप के बिना और किसी का बोधक नहीं हो सकता। (८,१)

(३) ओतत्त्वादनुज्ञातृत्वादनुज्ञातत्वादविकल्परूपत्वात्। ४र्थ मात्रा तथा ४र्थ पाद के अवान्तर भेदों में स्थूल, सूक्ष्मादि अथवा ओतादि की समानता है।

यह सब भी अविकल्प रूप ही है, अर्थात् ओतादि तीन का क्रमशः अविकल्प में लय करना चाहिए। अन्ततः वाच्य वाचक का भेद भी अविकल्प अविकल्प-परमार्थ निरपेक्ष अविकल्प में कैसे हो सकता है, इसी लिए ओंकार अन्ततः चिन्मात्र तुर्य तुर्य आत्मा ही है।

तुर्य तुर्यादेश

अथ तस्यायमादेशोऽमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः। एवं ओंकार आत्मैव। संविशत्यात्मनाऽत्मानं य एवं वेद ॥१०॥

संगति—यदि तुर्य तुर्य आत्मा में वाच्य वाचक का भेद भी नहीं है तो इसका उपदेश (आदेश) कैसे होगा?

उत्तर—अविकल्पाविकल्प तुर्य तुर्यात्मा का किसी भी कलना से संबंध नहीं है। आत्मा से भिन्न ज्ञाता आदि का भी अभाव है; इसलिए सामान्य व्यावहारिक शैली से न तो इसका ज्ञान हो सकता है और इसी लिए न इसका उपदेश हो

सकता है। इसी लिए इसे वाङ्मनसाऽगोचर कहा गया है। तथापि (अलौकिक) निषेध मुख से इस तुर्य तुर्यात्मा का निर्देश श्रुति करती है। अज्ञानी की आरोपित मात्रा, अध्यत्त, व्यवहार तथा प्रपञ्च के निषेध के द्वारा निष्प्रतियोगिक, सन्मात्र आत्मा का ज्ञान होता है। श्रुति निर्दिष्ट आदेश यह है।

पूर्वोक्त खण्ड तथा इस खण्ड के निर्देश में यह भेद है कि वहाँ तीन पाद रूप वाच्य के निषेध द्वारा उपदेश किया गया है, इस खण्ड में वाचक के निषेध द्वारा आदेश किया गया है।

तुर्य तुर्य आत्मा अमात्र (मात्रारहित अथवा मात्रा के आरोप का अधिष्ठान), चतुर्थ—तुरीय (पूर्वोक्त तीन मात्रा तथा तुर्य के तीन भेदों की अपेत्ता से), अव्यवहार्य (उच्चारण नहीं हो सकता) द्वारा प्रपञ्चोपशम रूप, इस लिए शिव तथा अद्वैत (अव्यवहार्यादिधर्म रहित), इसलिए ओंकार (ब्रह्म-प्रणव) आत्मा ही है।

विज्ञान का फल—ऐसे चिन्मात्र ओंकार का ज्ञानी, आत्मा (चिन्मात्र ओंकार) से आत्मा में प्रवेश करता है। अर्थात् सर्व विशेष के निषेध (बाध) द्वारा चिन्मात्र आत्मरूप से अवस्थान करता है ॥१८॥

मन्द अधिकारी की मन्त्रराज के द्वारा तुर्य अवगति

एष वीरो नारसिंहेन वानुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यादेष ह्यात्मानं प्रकाशयति । सर्वसंहारसमर्थः, परिभवासहः, प्रभुर्व्याप्तः सदोज्ज्वलो, अविद्यातत्कार्यहीनः, स्वात्मबंधहरः, सर्वदा द्वैतरहितः, आनन्दरूपः, सर्वधिष्ठानः सन्मात्रो,

निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति तस्मादेवमेवेममात्मानं परम-ब्रह्मानुसंदध्यादेष वीरो नृसिंह एवेति ॥ ११ ॥

संगति—मध्यम अधिकारी को आत्मा के चार पाद तथा ओंकार की मात्राओं के एकत्व रूपी अभ्यास के द्वारा तुर्य तुर्यात्मा की प्राप्ति का उपाय निरूपण करके अब मन्द अधिकारी के लिए नारसिंह मन्त्र के द्वारा परमतत्त्व की प्राप्ति का उपदेश करते हैं। इस वाक्य की मंत्रराज के सगुण तथा निर्गुण परमार्थ तुर्य तुरीय नृसिंह के सम्बन्ध में योजना करने से दो प्रकार की व्याख्या हो जाती है। अर्थात् मन्त्रगत प्रत्येक विशेषण सगुण नृसिंह अथवा निर्गुण तुर्य तुर्य आत्मा का निर्देश करते हुए ही सार्थक होता है। प्रथम व्याख्या को सुबोध करने के लिए मंत्र का रूप दे दिया जाता है।

इस मन्त्र का देवता नृसिंह है, इसलिए इसे नारसिंह कहते हैं।

इस मन्त्र का छन्द अनुष्टुप् है, इसलिए इसे आनुष्टुभ भी कहते हैं।

मन्त्र का राजा होने के कारण इसे मन्त्र-राज भी कहते हैं।

उग्रं वीरं महा विष्णुं, ज्वलन्तं सर्वतो मुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं, मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

नारसिंह मन्त्र के द्वारा नृसिंह देवता की उपासना से जो उपासक उसके स्वरूप का साक्षात्कार कर चुका है, और

आत्म-अज्ञान रूपी असुर के नाश में प्रवृत्त है, वह निश्चित वीर है। ऐसे उपासक को नारसिंह-आनुष्टुभ-उपर्युक्त मन्त्र-राज के द्वारा तुर्य तुर्य आत्मा का दर्शन करना चाहिए। यह मंत्र ही तुर्य तुरीय का प्रकाशक है। अर्थात् (१) तुर्य तुर्य आत्मा रूप नृसिंह अथवा सगुण नृसिंह तुर्य तुर्य आत्मा का ज्ञान कराने में समर्थ है। मन्त्र के प्रत्येक अक्षर, शब्द तथा भाग में अनेक प्रकार से सामर्थ्य निहित होती है। मानो यह प्रचण्ड अग्नि का एक गोला होता है, जो सर्व प्रतिबन्धों को भस्मसात् करता हुआ अपना फल उत्पन्न करके ही रहता है। हां! श्रद्धा, धैर्य तथा विधि का ज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान के लिए उचित सामग्री चाहिए, मन्त्र तो क्या, इसका प्रत्येक अक्षर, शब्द उपास्य देवता के स्वरूप, प्रभाव, और महिमा का प्रकाशक, प्रतिनिधि, सार अथवा पुञ्ज होता है। अक्षरादि का उस सामर्थ्य तथा प्रभाव के साथ, अग्नि के तपन, प्रकाश के समान ही स्वाभाविक तथा सहज सम्बन्ध होता है, और ज्ञात तथा अज्ञात फल को अवश्य उत्पन्न करता है। हां! विधिनिर्देश के अनुसार मन्त्र के अर्थ का यदि बोध हो और जाप के समय उस अर्थ का ध्यान हो, तो पूर्ण फल शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है। योगदर्शन में भी जैसे प्रणव के द्वारा ईश्वर प्रणिधान रूपी समाधि के उपाय प्रकरण में सूत्र है—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (१) अर्थात् प्रणव का जप अर्थ सहित करना चाहिए। प्रत्येक मन्त्र का मूल ओंकार है। यह नारसिंह मन्त्र-राज तो तुर्य तुर्य आत्मा की प्रतिपत्ति का उपाय है, इसलिए यह तो ओंकार रूप ही है; आगे इसी उपनिषद् में ऐसा निर्देश भी मिलता है। अतः इस मन्त्र की

महिमा, प्रभाव, सामर्थ्य सब ओंकार की महिमा आदि का व्याख्यान रूप ही है। इसलिए मन्त्रगत प्रत्येक अक्षर, शब्द आदि के प्रभाव आदि का ज्ञान मानो ओंकार के प्रभाव का ज्ञान है। इस दृष्टि से मन्त्रगत प्रत्येक शब्द का अर्थ ओंकार द्वारा भगवदुपासना करने वालों के लिए भी उपयोगी है। मन्त्रविद्या अत्यन्त रहस्यमयी है, अध्यात्म विद्या का यह एक प्रधान अंग है, यद्यपि इसका प्रयोग अनेक उद्देश्यों के लिए होता है। आजकल अध्यात्म विद्या के अन्य उपयोगी अंगों की तरह ही इसकी परम्परा प्रायः लुप्त हो चुकी है; और न ही इसमें श्रद्धा रह गई है। इस श्रद्धा के अभाव के कारण ही प्रायः श्रद्धा से इसका उपयोग भी नहीं किया जाता। इसी लिए इसकी महिमा का कुछ उल्लेख किया गया है। अर्थ की उपयोगिता की दृष्टि से उपर्युक्त वाक्य में भी सगुण अथवा निर्गुण नृसिंह (तुर्य तुर्य) की सामर्थ्य का वर्णन मन्त्रगत प्रत्येक शब्द की व्याख्या द्वारा संक्षेप से किया गया है। विस्तार से तो पूर्वतापिन्युपनिषद् में है और वैसे तो सम्पूर्ण उपनिषद् ही भिन्न भिन्न प्रकार से नृसिंह तथा नारसिंह मन्त्र की महिमा का ही प्रकाश है। पाठकों के उपयोग के लिए हम इस वाक् गत नारसिंह के प्रभाव का वर्णन करते हैं:—

उग्रः—सर्वसंहारसमर्थः—सर्वद्वैतरूप अज्ञान के संहार की सामर्थ्य तुर्य तुर्य आत्मा का लक्षण द्वारा निर्देश करती है। वीरः—परिभवासहः—किसी जड़ चेतन के द्वारा भक्त के परमार्थ में बाधा डालना रूपी तिरस्कार को सहन नहीं कर सकता—यह निर्विवाद है।

महाविष्णुम्—प्रभु व्याप्त (महा-प्रभु; विष्णु=व्याप्त)-महान् शक्ति सम्पन्न और व्यापक होने के कारण सर्व बाधाओं का निराकरण सहज ही कर देता है।

ज्वलन्तम्—सदोज्ज्वलः—स्वप्रकाश है। इसलिए अपने व्यवहार, कार्य में किसी प्रमाण अथवा साधन की अपेक्षा नहीं रखता।

सर्वतोमुखम्—अविद्याकार्यहीनः—अविद्या तथा उसके काय से सम्पर्क रहित स्व प्रकाश है। अहं ममादि अभिमान तथा राग-द्वेषरहित है। अतः इसे रक्षा के लिए अपने कार्य में उपर्युक्त कारणों से अन्य (भक्तविरोधी) साधन की ज़रूरत नहीं है। इसलिए निज महिमा में स्थित निरपेक्ष स्वयं सर्व संहार समर्थ है।

नृसिंहम्—स्वात्मबंधहर-नृ(गत्यर्थक धातु से) त्रिविध परिच्छेदरहित आत्मा (षिज्-बंधक अर्थक धातु से) अविद्या लक्षण वाले द्वैतरूप बंधन का संहारक है।

भीषणम्—सर्वदा द्वैतरहित, मध्याह्न के भास्कर के समान इस महास्फुरण स्वभाव रूप तुर्य-तुर्य आत्मा को तम-अज्ञान-द्वैत भय कदापि परमार्थ रूप से स्पर्श नहीं करता।

भद्रम्—आनन्द रूप—स्वयमानन्दस्वरूप है। अतः परम मंगलरूप भद्र है, परमइष्ट है, इसलिए सम्पूर्ण दुःखरूप द्वैत के संहार से सुख में कोई क्षति नहीं होती।

मृत्युमृत्युम्—सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः—प्रथम मृत्यु शब्द का अर्थ है निरन्तर मरणधर्मा, सर्व-द्वैत रूप अज्ञान, द्वितीय मृत्यु का अर्थ है संहर्ता आत्मज्ञान के द्वारा आत्मा में अध्यस्त अज्ञान के नाश होने से, आत्मा अनध्यस्त, अबाधित परमार्थ

सन्मात्र रूप से पूर्व के समान अपनी महिमा में स्थित होता है। अर्थात् इस मरण शील अज्ञान के अधिष्ठान रूप से अज्ञान काल में भी स्थित रहता है। अज्ञान के नाश के पश्वात् बाध की अवधिरूप से तथा बाधक साक्षीरूप से रहता है, अर्थात् आत्मा ही परम सत्य है। कारण अज्ञान के नाश से इस में कुछ क्षति नहीं होती।

नमामि—निरस्ताविद्यातमोमोहः-अविद्या विद्या की विरोधी है, इसलिए इसका निरास संभव है; आच्छादक रूप तम होने के कारण इसका निरास करना चाहिए। मोह—विक्षेप—का हेतु होने के कारण भी इसका निरास करना चाहिए। नमामि= न+मा+मि, न=निषेधार्थ, मा=प्रमा-संविद्रूप तुर्य बोधक, मि=हिंसाकर आत्मा को आच्छादन करने वाला विक्षेप का कारणभूत अज्ञान अर्थात् अज्ञान शून्य।

अहंएव=प्रत्यगात्मा अहंकार आदि द्वैतरहित॥

तस्मात्...एव=क्योंकि उपर्युक्त रीति से यह सिद्ध किया गया है कि अनुष्टुप् मन्त्र तुर्य का प्रकाशक है, इसलिए इस विधि से प्रत्यगात्मा का परब्रह्म रूप से चिन्तन करे।

विद्या का फल—नृसिंह (तुर्य तुर्य आत्म) रूप है अतः पुनः संहार में नहीं लौटता।

तृतीय खण्ड

खण्ड संगति—द्वितीय खण्ड में मध्यम अधिकारी के लिए ओंकार की मात्रा तथा आत्मा के पाद के एकत्व द्वारा तुर्य तुरीय आत्मा की प्रतिपत्ति का आदेश किया है, तथा अनन्त प्रभाव वाले अनुष्टुप् द्वारा आत्मप्रतिपत्ति का विधान किया है। अब उसी में कुछ विशेष विधान द्वारा (४ मात्रा, अनुष्टुप् के४ पाद तथा आत्मा के चार पाद) विस्तार से निरूपण करते हैं।

प्रणव तथा मन्त्रराज के पादों का तुर्यात्मरूप से ध्यान

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादो भवति, द्वितीया द्वितीयस्य, तृतीया तृतीयस्य, चतुर्थ्योतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्परूपा, तया तुरीयं चतुरात्मानमन्विष्य चतुर्थपादेन च तया तुरीयेणानुचिन्तयन् ग्रसेत् ॥१॥

(१) अम् जिस ओंकार का पूर्व वर्णन हो चुका है उसकी प्रथम मात्रा अकारअनुष्टुप् मंत्र का प्रथम पाद है, दोनों विराट् के वाचक हैं; अर्थात् इसका प्रयोग ऐसे होगा।

अम्—उग्रंवीरं महाविष्णुं—इस मिश्रित उच्चारण के द्वारा विराट् का चिन्तन कर (अकार के बीज, बिन्दु, नाद, शक्ति–४ रूपों तथा अनुष्टुप् के प्रथम पाद के ४ अक्षरों द्वारा) विराट् के ४ रूपों का ध्यान करे।

(२) ओंकार की दूसरी मात्रा उकार तथा अनुष्टुप् के

दूसरे पाद के संयुक्त उच्चारण द्वारा हिरण्यगर्भ का चिन्तन करे। यथा—

उम् ज्वलन्तं सवतो मुखं—हिरण्यगर्भ के चार अवान्तर भद।

(३) ओंकार की तीसरी मात्रा मकार तथा अनुष्टुप् के ३य पाद के संयुक्त उच्चारण द्वारा (प्राज्ञ) ईश्वर के चार अवान्तर भेदों का चिन्तन करे। यथा—

मम् नृसिंहं भीषणं भद्रं – ईश्वर के चार पाद।

(४) ओंकार की ४र्थ मात्रा ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञैक-रस, तथा अविकल्प रूप है। इस ४र्थ मात्रा के द्वारा तुर्यात्मा के चार अवान्तर भेदों अर्थात् ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञैकरस तथा अविकल्प का चिन्तन करे।

पुनः अनुष्टुप् के चतुर्थ पाद के द्वारा तुर्यात्मा का चिन्तन करे। अन्ततः इनके द्वारा तुर्य तुरीयात्मा का चिन्तन करके पूर्वोक्त संपूर्ण नामरूपात्मक जगत् को विलय करे।

उपर्युक्त का प्रयोग

(१) अम् अर्थात् चतुरूप अकार द्वारा चतुरूप विराट् का चिन्तन कर पुनः अनुष्टुप् के प्रथम पाद के द्वारा विराट् का स्फुट रूप से चिन्तन करे। अम् उच्चारण करते हुए विराट् को अम् रूप से चिन्तन करे।

(२) उम् उच्चारण करते हुए हिरण्यगर्भ का अनुचिन्तन करे, (अम् तथा विराट् का लय करे) अनुष्टुप् के द्वितीय पाद द्वारा हिरण्यगर्भ का अनुचिन्तन करे।

(३) मकार द्वारा अव्याकृत ईश्वर का चिन्तन कर, उकार तथा हिरण्यगर्भ का इनमें लय कर पुनः अनुष्टुप् के ३य पाद द्वारा अव्याकृत का चिन्तन करे।

(४) ओतादि तुरीय प्रणव द्वारा तुरीयात्मा का अनुचिन्तन करे, उसमें अकार आदि तीनों का विलय कर, अनुष्टुप् चतुर्थ पाद से उसका स्मरण कर, पुनः बिन्दु आदि सहित तुरीय प्रणव द्वारा तुर्य आत्मा का चिन्तन कर स्वरूप में स्थित हो।

आत्मनः प्रथमपादध्यानम्

तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री, गार्हपत्यः स प्रथमः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥ २ ॥

संगति—उपासना के शेष रूप से मात्राओं की विभूति का वर्णन भी है। पूर्वोक्त प्रणव की प्रथम मात्रा (१) सप्तद्वीप तथा सागर से युक्त पृथिवी। (२) अकार अक्षर। (३) मन्त्र ब्राह्मणात्मक ऋग्वेद। (४) जगत् उत्पादक देवता ब्रह्मा। (५) अग्न्यादि नक्षत्रान्त, ८ वसुरूप अधिदेवता। (६) २४ अक्षरों वाला गायत्री छन्द तथा (७) गार्हपत्य अग्नि—इन सप्त विभूतियों से युक्त है—यह आत्मा तथा मन्त्रराज का प्रथम पाद विराट् रूप ही है। यह आत्मा का प्रथम पाद प्रणव मात्रा रूप सर्व पादों में स्थूल, सूक्ष्म, बीज, साक्षिरूप चार अवान्तर भेदों वाला है। एकत्व में हेतु २, ५ में दिए गए हैं—१. व्याप्ति, २. प्रथमता। (३) स्थूलत्वादि।

द्वितीयपादध्यानम्

द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णु-रुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः॥३॥

पूर्वोक्त प्रणव की द्वितीय मात्रा (१) अन्तरिक्ष लोक। (२) उकार अक्षर। (३) अविवक्षित छन्दों सहित मन्त्र ब्राह्मणात्मक यजुर्वेद (अध्वर प्रकाशक) (४) जगत् हितकारी विष्णु-देवता। (५) एकादश इन्द्रिय रूप रुद्र अधि देवता। (६) ४० अक्षरों वाला त्रिष्टुप् छन्द (७) तथा प्रसिद्ध दक्षिणाग्नि रूप है। यह मन्त्रराज तथा आत्मा का दूसरा पाद हिरण्यगर्भ रूप है। एकता में हेतु पूर्व २, ६ में दिए गए हैं। (१) उत्कर्षता (२) उभयता (३) स्थूलत्वादि। यह आत्मा का २य पाद स्थूल सूक्ष्म भेद से चार अवान्तर भेदों वाला है ॥३॥

तृतीयपादध्यानम्

तृतीयाद्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रादित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥५॥

पूर्वोक्त प्रणव की तृतीयामात्रा (१) द्युलोक (२) मकार अक्षर (३) गीत प्रधान मन्त्र ब्राह्मणात्मक सामवेद (४) संहार कर्ता रुद्र देवता (५) १२ आदित्य अधिदेवता (६) ४८ अक्षरात्मक जगती छन्द (७) आहुति अधिकरण आह्वनीय अग्नि-रूप अनुष्टुप् मन्त्र तथा आत्मा का तीसरा पाद ही है।

एकता में हेतु पूर्व २,७ में दिये गये हैं। (१) मितिः—मान

(२) अपीति—एकीभाव, (३) स्थूलत्वादि—यह आत्मा का ३य पाद स्थूलादि रूप से ४ अवान्तर भेदों वाला है।

चतुर्थपादध्यानम्

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोकः ओंकारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकऋषिर्भास्वती स्मृता सा चतुर्थःपादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु, चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥५॥

मात्रात्रय के अन्त में इस पूर्वोक्त प्रणव की ४र्थ अर्धमात्रा बिन्दु आदि रूपा (मात्रा तथा अमात्रपक्ष का अर्ध, तृतीय कारण के भी अनुगत अथवा काल दृष्टि से अर्ध मात्रा न कि स्वतः)—(१) सोमलोक (उमा विद्यासहित परमेश्वर का लोक) इस से भिन्न सामान्य लोक तो द्युलोक के ही अन्तर्गत है अतः उसका पृथक् ग्रहण अयोग्य है—द्युलोक की पूर्व मकार मात्रा में गणना है। (२) ओंकार (मात्रातीत प्रणव, बिन्दु आदि का पृथक् उच्चारण असम्भव है) (३) अथर्वण ऋषि से दृष्ट षट् कर्म प्रधान मन्त्र ब्राह्मणात्मक अथर्व वेद (४) त्रिलोकी को दग्ध करने वाली संवर्तक अग्नि (ईश्वर) (५) ४र्थ मरुत-वायु-अधिदेवता (६) १० अक्षर वाला विराट् छन्द (७) अथर्वणों की प्रसिद्ध एकर्षि अग्नि जिसे शास्त्रोक्ति के अनुसार विद्वान भास्वती प्रकाशरूप कहते हैं। यह चतुर्थ अर्धमात्रा अनुष्टुप् तथा आत्मा का ४र्थ पाद है। इसके स्थूलादि ४ अवान्तर भेद हैं। चतुर्थ मात्र तथा पाद की एकता में समानता-रूप हेतु २,६ में दिए गये हैं। (१) तुर्यत्व (२) चिद्रूपता (३) ओतत्वादि ॥५॥

तुर्य तुर्य में सब का उपसंहार

मात्राऽमात्रा प्रतिमात्राः कृत्वोतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत् ॥६॥

पूर्वोक्त द्वितीय खण्ड में मात्रा प्रतिमात्रा करण विधि के अनुसार व्यष्टि समष्टि-ऐक्य चिन्तन करके मात्रा पादमिश्रोपासना द्वारा क्रमशः उपसंहार कर, चतुर्थमात्रा तथा पाद को ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञैकरस तथा अविकल्प रूपचिन्तन करके सब का तुर्यतुर्यात्मा में विलय करे, अर्थात् इस विधि से अखंड, चिन्मात्र आत्मरूप से अवस्थान करे ॥६॥

तुर्यतुर्य अवगतिः

ज्ञोऽमृतो हुतसंवित्कः शुद्धः संविष्टो निर्विघ्न इममसुनियमेऽनुभूयेहेदंसर्वं दृष्ट्वा प्रपंचहीनः ॥७॥

उपर्युक्त उपसंहार द्वारा प्राप्त तुर्यतुर्य (परमार्थ) आत्म स्वरूप स्थिति का वर्णन करते हैं—

यह तुर्य तुर्यात्मा (ज्ञः) चिन्मात्र स्वरूप (अमृतः) मरणधर्मा उपाधि के अभाव से अमृत, (हुतसंवित्कः) आत्माग्नि में ध्याता आदि त्रिपुटी के होम द्वारा त्रिपुटि रहित अखण्ड, (अविद्या मलिनता से रहित) शुद्ध, (संविष्टः) स्थिरासन पर सम्यक् स्थित निर्विघ्न पुनरुत्थान रहित। (असुनियमे) प्राणयाम द्वारा प्राणों के निरोध करने पर संयमित मन से (इमम्) सच्चिदानन्द आत्मा के प्रत्यक् भिन्न, ज्ञान द्वारा (इदम्) इस (नृसिंह मंत्रराज तथा प्रणव के पाद और मात्राओं के अवान्तर भेदों सहित) (सर्वं) सर्व को (तुर्यतुर्य मात्रा रूप से)

(दृष्ट्वा) जान कर, ऐसा (अभ्यासी) (प्रपञ्चहीनः) सर्व प्रपञ्चरहित तुर्य तुर्य आत्म स्वरूपस्थिति को प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मरूप से अवस्थान करता है ॥७॥

सकल ब्रह्मस्वरूप

अथ सकलः साधारोऽमृतमयश्चतुरात्मा ॥८॥

संगति—अब मन्दाधिकारी के लिए सकल ब्रह्म का स्वरूप उसके ध्यान से (चित्त शुद्धि होने पर) तुर्यतुर्यात्मा स्थिति की उपलब्धि के लिए निरूपण किया जाता है।

(अथ) उत्तम मध्यम अधिकारी के लिए तुर्यतुर्य अवगति के उपाय निरूपण करने के अनन्तर मंदाधिकारी के साधन का आरंभ करते हैं।

(१) अकार वाच्य-(क) चतुर्भेद युक्त जाग्रत् अवस्था (ख) उनके अभिमानी विश्व विराट् (ग) उनके भोग आदि।

(२) उकार वाच्य (क) चतुर्भेद युक्त स्वप्नावस्था (ख) उनके व्यष्टि समष्टि अभिमानी तैजस, हिरण्यगर्भ अनुज्ञाता (ग) तथा उनके भोगादि।

(३) मकार वाच्य (क) चतुर्भेद युक्त सुषुप्ति अवस्था, (ख) उनके अभिमानी प्राज्ञ, ईश्वर, अनुज्ञैकरस, (ग) तथा उनके भोग आदि।

(४) तुर्य ओंकार वाच्य (क) चतुर्भेद युक्त तुर्यावस्था। (ख) अभिमानी ओता आदि तथा (ग) उनके भोग आदि।

(५) मन्त्र राज (पाद रूप) कला से युक्त उपर्युक्त प्रपञ्च का आधार अमृतमय आत्मा के चार स्वरूप (अथवा अवान्तर

भेद हैं) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा संवर्ताग्नि। तथा यह सर्वमय (प्रणव, मन्त्रराजाक्षरमय) है।

सकल-ब्रह्म का ध्यान

अथ महापीठे। सपरिवारं तमेतं चतुःसप्तात्मानं। चतुरात्मानं मूलाग्नौ अग्निरूपं प्रणवं संदध्यात्। सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं नाभौ। सप्तात्मानं चतुरात्मानमुकारं विष्णुं हृदये। सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं रुद्रं भ्रूमध्ये। सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमोंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते। सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानमोंकारं तुरीयमानन्दामृतरूपं षोडशान्ते॥ ९॥

अथ (१) श्रुति—आचार्य उपदेश के अनन्तर अथवा (२) आत्मपूजा के अनन्तर आत्मपूजा का स्वरूप—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सर्वेश्वर रूप चतुर्मूर्ति व्यापक साक्षी (परमानन्द बोध क सागर) का ध्यान कर चतुर्मूर्ति को इस आनन्द रूप में लीन कर दें।

महापीठे—(१) श्री नृसिंह निवास के हेतु सुषुम्नान्तर्गत (२) बहिर्मुख सदात्मक गुणबीज रूप मूलाधार स्थिति (३) अष्टचतुर्दलपद्माकार में।

सपरिवारम—(१) नृसिंह अनन्य भक्त पटल रूप परिवार से युक्त (२) पूर्वतापिन्युपनिषद् के अनुसार अंगादि ३२ व्यूह अन्तर्गत परिवार सहित (३) उपर्युक्त ३२ दल अन्तर्गत= अष्टदलान्तर्गत-पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, सोमलोक आदि अष्टक

रूप अथवा चतुर्दल अन्तर्गत (सच्चिदानन्द पूर्णात्मा द्वय प्रकाश विमर्श रूप से युक्त) ब्रह्मसर्वेश्वर, विष्णु सर्वेश्वर, रुद्र सर्वेश्वर, सर्वेश्वर रूप परिवार सहित।

(तं) (१) ३६ में युक्त सकलं, साधारं, सर्वमयं. अमृतमयं, रूप चतुरात्मा नं० २ पाद, मात्रा, खण्ड अर्थात् प्रथम द्वितीय खण्डोक्त।

एतम्—क्रम खण्ड उक्त

चतुः सप्तात्मानम—पृथिवी, अकार, ऋग्वेद, ब्रह्म, वसु, गायत्री, गार्हपत्य—अन्तरिक्ष, उकार, यजुर्वेद, विष्णु, रुद्र, त्रिष्टुप्, दक्षिणाग्नि—द्यु, मकार, सामवेद, रुद्र, आदित्य, जगती, आहवनीय—सोमलोक, ओंकार, अथर्ववेद, संवर्तक, अग्नि, मरुत्, विराट्, एकर्षि रूप—यहां व्यष्टि देवताओं का समष्टि देवताओं से युगपत् एकत्व है।

चतुरात्मानम्— समष्टि व्यष्टि (स्थूल, सूक्ष्म, बीज, साक्षी) रूप (अथवा ओतादि) यहां समष्टि देवता के चार अंशों का व्यष्टि देवों से एकत्व है।

मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं संदध्यात्—मूलाधार पद्मगत त्रिकोणगत अग्नि मण्डल है, (अग्नि) चित प्रकाश स्वरूप, अथवा प्रलयसूर्य (अग्नि) रूमज्योति रूप तुर्य प्रणव (सोमलोक आदि सप्तविभूतिमान तथा स्थूलादि चतुर्व रूपवान्) का ध्यान करे। मूलाधार में भी तुर्य प्रणव होता है, यद्यपि यहां उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु द्वादशान्त तथा षोडशान्त से यहां उद्धृत करना चाहिए।

सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं नाभौ—(यहां से मात्रा विभाग आरम्भ होता है)—मूलाधार स्थित अग्नि को

नाभि में लाकर, उसमें अनुष्टुप् के प्रथम पाद के आठ अक्षर रूप आठ दल युक्त पद्म का चिन्तन कर, उसकी कर्णिका में, प्रणवस्थ अकार भेद बीज, बिन्दु, नाद, शक्ति रूप, चार दल युक्त पद्म का चिन्तन कर, उसकी कर्णिका में सरस्वती-मूल प्रकृतिसहित ब्रह्म सर्वेश्वर का ध्यान करे [सपरिवार चिन्तन—अष्टदल पद्म में अकार संबन्धी पृथिवी आदि अष्टक रूप अनुष्टुप् , प्रथम पाद के अक्षरों में स्थित सांगोपांग वेद और चार दल स्थित ब्रह्म ब्रह्मा, ब्रह्म विष्णु, ब्रह्म रुद्र, ब्रह्म सर्वेश्वर का परिवार रूप से ध्यान करे। इसी प्रकार अष्ट-दल पद्म में चार दिशाओं में वेद, अग्नि कोण (उत्तर पूर्व दिशा में षडंग, निर्ऋति कोण (दक्षिण पश्चिम) में मीमांसा, वायव्य कोण (उत्तर पश्चिम) में न्याय, ईशान कोण (दक्षिण पूर्व) में इतिहास, पुराण, आगम आदि। चतुर्दल पद्म में पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पूर्व दिशा भेद से उपर्यक्त देवताओं का चिन्तन करे। ऐसे ही अगामी ध्यान में योजना करे]। सप्तात्मा को अकार आदि मात्राओं सहित अष्टात्मा समझना चाहिए, नहीं तो अनुष्टुप् के आठ अक्षर नहीं बनते। समष्टि व्यष्टि की एकत्व विवक्षा से स्थूलादि भेद से चार रूप किए गए हैं। इस विधि से प्रणवस्थ अकार रूप रजोप्रधान सोम-मण्डल स्थित सरस्वती मूल प्रकृति सहित सर्वेश्वर का नाभि-स्थित तेज मण्डल में अष्टदल स्थित, चतुर्दल पद्म की कर्णिका में ध्यान करे।

सप्तात्मानं···हृदये—उपर्युक्त के अनुसार सप्तात्मरूप तथा चतुरात्म रूप उकार वाच्य विष्णु, सर्वेश्वर का श्रीमूल प्रकृति सहित, सत्व प्रधान सूर्य मण्डल स्थित(अष्टदल पद्म के आठ दलों

में वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राघव, बलभद्र, कृष्ण, कल्कि मूर्ति का ध्यान कर) चतुर्दल में ध्यान करें।

सप्तात्मानं···भ्रू मध्ये–सप्तात्मा तथा चतुरात्मा मकाररूप (उमामूल प्रकृतिसहित रुद्र सर्वेश्वर का तमःप्रधान अग्नि-मण्डल स्थित भ्रूमध्य (अष्टदल में शर्व, भव, पशुपति, ईशान, भीम, महादेव, रुद्र, उग्र रूप का ध्यान कर) उस पद्म के बीच मकार रूप चतुर्दल में ध्यान करें।

सप्तात्मानं···द्वादशान्तो···सप्तात्मानं चतुरात्मानं—ओंकार की सप्त विभूति सहित तथा स्थूलादि चार भेदों सहित, तुर्य प्रणव रूप ओंकार रूप सर्वेश्वर (गुण साम्योपाधि शक्ति मण्डलस्थमूल प्रकृति माया सहित) का द्वादशान्त में (सहस्रदल पद्म अथवा ब्रह्म रन्ध्र में) ३२ दल युक्त पद्म में मूलाधार स्थित ३२ दलोक्त देवता अधिष्ठित तथा अष्ट दल में सदादि मूर्तियुक्त-उसकी कर्णिका में, चार दल पद्म में) ध्यान करें।

सप्तात्मानं···षोड़शान्ते—नान्तः प्रज्ञादि रूप–तुर्य ओंकार गुणबीजोपाधियुक्त शक्ति मण्डल स्थित आनन्दामृत रूप षोड़शान्त में (सहस्रदल पद्म से १६ अंगुल ऊपर) अधोमुख द्वात्रिंशदष्टदल चतुर्दल पद्मों में पूर्वोक्त देवता आदि से युक्त ध्यान करें।

खण्ड सप्तम

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् भूय एव नो भगवान् विज्ञाप, यत्विति ॥१॥

तथेत्यजत्वादमरत्वादजरत्वादमृतत्वादभयत्वादशोकत्वा-दमोहत्वादनशनायत्वादपिपासत्वाद् अद्वैतत्वाच्चाकारेणेममात्म-

नमन्विष्योत्कृष्टत्वादुत्पादकत्वादुत्प्रवेष्टृत्वादुत्थापयितृत्वादुद्द्रष्टृत्वादुत्कर्तृत्वादुत्पथवारकत्वादुद्ग्रासत्वादुद्भ्रान्तत्वादुत्तीर्णविकृतत्वाच्चोंकारेणेममात्मानं परमं ब्रह्म नृसिंहमन्विष्याकारेणेममात्मानमुकारं पूर्वार्धमाकृष्यसिंहीकृत्योत्तरार्धेन तं सिंहमाकृष्य महत्त्वान्महस्त्वान्मानत्वान्मुक्तत्वान्महादेवत्वान्महेश्वरत्वान्महासत्वान्महाचित्त्वान् महानन्दत्वान् महाप्रभुत्वाच्च मकारार्धेनानेनात्मनैकीकुर्यात् ॥२॥

अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति, य एवं वेद ॥३॥

संगति—प्रणव मात्रा के द्वारा व्यतिहार सम्पादन की विधि से आत्म-प्रतिपत्ति का प्रकार।

देवता प्रजापति से प्रार्थना करते हैं कि भगवन्! भेद अभेद की शंका के निरास पूर्वक अखण्ड एकत्व का उपदेश करें।

प्रजापति उत्तर देते हैं—व्यतिहार के लिए ओंकार की मात्राओं का अर्थ इस प्रकार करते हैं। (१) अकार—प्रत्यगात्मा, (२) उकार-पूर्व अर्ध-ब्रह्म (३) उकारउत्तरार्ध ब्रह्म (४) मकार प्रत्यक्।

(क) अकार तथा प्रत्यक् के वाच्य वाचक भाव में कारण बताते हैं:—

आत्मा अज गुण से युक्त है, अजगुण विशिष्ट आत्मा का वाचक अज, अज का प्रथम अक्षर 'अ' ओंकार की प्रथम मात्रा है, इसलिए अज गुण विशिष्ट आत्मा का वाचक 'अ' है। इसी प्रकार 'अमर' आदि गुणविशिष्ट आत्मा का वाचक 'अ' है।

प्रथम चार गुणों (अज, अमर, अजर, अमृत) से स्थूल देह के धर्मों का निषेध है, (अभय, अशोक, और अमोह रूप) तीन गुणों द्वारा बुद्धि के धर्मों का निषेध है; (अनशन, अपिपासा) रूप गुणों से प्राण के धर्मों का निषेध है, और अद्वैत गुण से सम्पूर्ण धर्मों अथवा कारण शरीर के धर्मों का निषेध किया है, इस प्रकार अकार के उच्चारण के समय उपर्युक्त गुण युक्त प्रत्यगात्मा का चिन्तन करे।

(ख) उकार का कुछ दीर्घ उच्चारण करके—उकार की दोनों मात्राओं (विभागों) का ब्रह्मरूप से चिन्तन निम्नलिखित ब्रह्म गुणों के कारण करे—

दो बार उत् प्रत्येक गुणवाची शब्द में अधिक (निरतिशय) उत्कृष्टता का द्योतक है। उत्कृष्ट--सर्व संसार धर्म से रहित, उत्पादक--सर्वज्ञत्व आदि विशिष्ट, प्रवेष्टत्व—जीव रूप से; उत्थापितृत्व—नियन्ता रूप से; द्रष्टत्व तथा कर्तृत्व-बुद्धि तथा प्राण उपाधि के द्वारा; उत्पथवारकत्व—नियन्ता ईश्वर रूप से; ग्रासकत्व—संहारकत्व रुद्र रूप से; भ्रान्तत्व—व्यापकत्व कारणात्मा रूप से; उत्तीर्णविकृतित्व—साक्षि रूप से; उपर्युक्त विधि से उकार ब्रह्म का वाचक है। अतः ओंकार के उच्चारण के समय परमनृसिंह (ब्रह्म) का चिन्तन कर, अकार के अर्थ प्रत्यगात्मा को पूर्वार्ध उकार के अर्थ ब्रह्म के समीप लाए, अर्थात् ब्रह्मरूप से चिन्तन करे।

अब व्यतिहार का २य भाग अर्थात् उकार की द्वितीय अर्धमात्रा रूप ब्रह्म का मकार रूप प्रत्यगात्मा से एकत्व वर्णन करते हैं।

उकार के द्वितीय अर्ध मात्रा द्वारा सिंह अर्थात् ब्रह्म का चिन्तन कर मकार के अर्थ प्रत्यगात्मा से एकत्व सम्पादन करे।

महत्वादि गुणविशिष्ट प्रत्यगात्मा का वाचक, इन गुणों का आदि अक्षर मकार है। महत्त्व—व्याप्तत्व, महत्त्व, तेजो-रूपत्व; मानत्व—सर्व साधारण प्रमाण रूपत्व; मुक्तत्व—अपारवश्यत्व; महादेवत्व—महा क्रीड़ा रसिकत्वादि धर्म से विशिष्ट; महेश्वरत्व—सर्व नियन्तृत्व; महा सत्वादिक—अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द रूपत्व; महाप्रभुत्व—संविधि मात्र से सर्व सुवर्तकत्व; इस प्रकार ओंकार की मात्राओं द्वारा ही व्यतिहार के दो भागों का सम्पादन करके प्रत्यगात्मा तथा ब्रह्म के मुख्य एकत्व के ज्ञान को दृढ़ करे। यथा—

(१) अ—प्रत्यगात्मा—उकार—ब्रह्म—आत्मा के अपरिच्छिन्नत्व का निश्चय तथा

(२) उकार–ब्रह्म–प्रत्यगात्मा–ब्रह्म के अपरोक्ष प्रत्यगात्मा द्वारा अपरोक्षत्व का निश्चय ॥२॥

इस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप विद्या का फल—

उपर्युक्त विधि से ओंकार की मात्राओं द्वारा व्यतिहार सम्पादन की शैली से जो अखण्ड (त्रिविध भेद शून्य) चिन्मात्र परमार्थ तत्त्व का निश्चय करता है, वह शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मन रूप कारण उपाधि रहित सच्चिदानन्द मात्र स्वराट् रूप से अवस्थान करता है।

अष्टम खण्ड

अध्यायसंगत्ति—७म अध्याय में विभक्त (मात्रायुक्त) प्रणव के द्वारा आत्म-प्रतिपत्ति के उपाय का निरूपण करके, अब अविभक्त प्रणव अर्थात् तुर्यप्रणव के चार भेद ओता आदि के द्वारा आत्मप्रतिपत्ति का निरूपण करते हैं। यह साधना पूर्व खण्ड में वर्णित तुर्य जाग्रत् आदि तीन तुर्य के पूर्व रूपों के अभ्यास के अनन्तर हो सकती है। अर्थात् जो १,१२ में कहा

है ओतादि प्रत्येक का तुर्य आत्मा में ही अवसान होने के कारण तुर्य नाम है, इस पूर्व के कथन को ही स्पष्ट करते हैं।

१. ओत योग

ओंकार तथा आत्मा ओता (सर्व व्यापक, सच्चिदानन्द रूप से सर्व रूप अखण्ड) है, ऐसा चिन्तन ओतयोग है।

तुरीयेण ओतश्च प्रोतश्च ह्ययमात्मा नृसिंहो। अस्मिन् सर्वमयं सर्वात्मा। अयं हि सर्वं नैवोतो। अद्वयो ह्यात्मैकल एव। अविकल्पो। नहि वस्तु सद्। अयं ह्योत इव सद् घनोऽयं चिद्धन आनन्दघनः। एकरसो। अव्यवहार्यः केनचनाद्वितीयः। (ओतश्च प्रोतश्चैष ओंकारः।) एवं नैवमिति पृष्टे ओमित्येवाह। वाग्वा ओंकारो, वागेवेदं सर्वं, न ह्यशब्द-मिवेहास्ति। चिन्मयो ह्ययमोंकारः। चिन्मयमिदं सर्वं। तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवति। एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म। अभयं वै ब्रह्म। अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति। रहस्यम् ॥१॥

संगति—अब ओत-ओंकार-द्वारा ही आत्मप्रतिपत्ति के उपाय ओत योग का निरूपण करते हैं।

इस खण्ड में प्रत्येक वाक्य के दो भाग हैं (१) आत्मा के ओतत्त्व के द्वारा तुर्य तुर्य आत्मत्व-अखण्डत्व सिद्ध किया गया है। (२) ओंकार के ओतत्त्व के द्वारा वाच्य वाचक एकत्व तथा अखण्डार्थत्व सिद्ध किया गया है। ओत-तुर्य ओंकार की ओत आत्मा से ओतत्व-व्यापकता की समानता के कारण एकत्व है। अतः ओत ओंकार के चिन्तन के द्वारा आत्म प्रतिपत्ति (चिन्मात्र मात्र आत्म रूपेण अवस्थान) हो सकती है। अर्थात् इस वाक्य में ओत योग का निरूपण है।

(१) आत्मा (सन्मात्र रूप से) ओत है, और (सच्चिदानन्द रूप से) प्रोत है, क्योंकि सच्चिदानन्द रूप से आत्मा की सर्वत्र व्याप्ति प्रसिद्ध है जैसे, पुत्रसत्ता, पुत्रसंवित् (ज्ञान) पुत्र सुख। यह आत्मा नृसिंह—सर्वसंहार रहित अर्थात् सर्वरूप—है, इसलिए व्यापक होने के कारण ही आत्मा ओत कहा गया है क्योंकि इस सच्चिदानन्द रूप आत्मा में ही सब कुछ व्याप्य रूप से स्थित है। क्यों यह ही सर्वात्मा है (ज्ञान से अतिरिक्त (स्वतन्त्र) जगत् का स्वरूप कुछ नहीं है)। वास्तव में आत्मा ही सब है, भिन्न अथवा अभिन्न रूप से कुछ नहीं है—व्याप्य के अभाव के कारण आत्मा पारमार्थिक ओता भी नहीं है। अद्वय आत्मा ही ओता कहा गया है। अद्वितीयत्व आदि धर्म शून्य एकत्व है। क्योंकि सर्वविकल्प रहित है, विकल्प रूप धर्म सत् नहीं है। यह आत्मा ओता के समान भासता है। यह आत्मा सन्मात्र चिन्मात्र तथा आनन्दमात्र है; घट, पट, सत्ता, संवित्, सुख भेद घट-पट कल्पित उपाधि भेद के कारण है भेद प्रतीति है—स्वतः नहीं। सदादि का परस्पर भेद भी नहीं है, क्योंकि यह एक रस है। अव्यवहार्य होने के कारण किसी प्रकार भी उपदेश के योग्य नहीं, यह अद्वितीय है।

(२) २य भाग ओंकार ओतत्त्व का निरूपण—वाच्य वाचक अभेद सिद्धि के लिए।

यह ओंकार ओत तथा प्रोत है। (१) हेतु—यह ऐसा है या ऐसा नहीं है ऐसा पूछने पर तो उत्तर में 'ओ३म्' ऐसा कहते हैं (यह ऐसा है या ऐसा नहीं है, इस उत्तर के स्थान में, जिससे सिद्ध होता है कि यह सर्ववाचक है) (२) हेतुनिश्चित

वाङ् मात्र ओंकार है—(श्रुति) वाक् ही सब कुछ है। सब संसार वाक् का कार्य है वाक् सर्वत्र अनुगत है, परा आदि वाक् से भिन्न किसी का प्रतिभास भी नहीं है। ओंकार बोधक (प्रकाशक) होने के कारण चिद्रूप है। यह सर्व चिन्मय है, अतः चिन्मय ओंकार ओता है, इसलिए ओंकार परमेश्वर ही है। वाच्य वाचक भेद शून्य है। यह सर्व संसार धर्मरहित अमृत, अभय, ब्रह्म रूप है क्योंकि ब्रह्म निश्चित अभय रूप है। इस विद्या का ज्ञाता अभय ब्रह्म ही होता है, यह आत्मा तथा ओंकार का ओतत्त्व (व्यापकत्व-अखण्डत्व) गोपनीय है ॥१॥

२. अनुज्ञाता योग

उपर्युक्त ओतभावना से तुर्य तुर्य आत्मा में अवस्थान करने पर यदि प्रारब्ध आदि किसी निमित्त से मन चलायमान (व्युत्थान) होकर द्वैत प्रतीति हो; जो उपर्युक्त प्रतिपत्ति के द्वारा द्वैत के बाधित हो जाने से, एवं असत् का स्वयं प्रतिभास होना असम्भव है। इसलिए द्वैत के आत्मा में आरोप मात्र होने से, इसकी प्रातिभासिक सत्ता का निश्चय करना अनुज्ञाता योग कहलाता है।

अनुज्ञाता ह्ययमात्मैष ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानमनु जानाति। न हीदं सर्वं स्वत आत्मविन्। न ह्ययमोतो न अनुज्ञाता। ऽसङ्गत्वादविकारित्वाद सत्त्वादन्यस्य।

अनुज्ञाता ह्ययमोंकार ओमिति ह्यनुजानाति वाग् वा ओंकारो वागेवेदं सर्वमनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिद्धीदं सर्वं। निरात्मकमात्मसात्करोति। तस्मात् परमेश्वर

एवैकमेव तद्भवति । एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म । अभयं वै ब्रह्म । अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥ २ ॥

(क) यह आत्मा अनुज्ञाता है—ओत योग (भावना) के द्वारा तुर्य तुर्य आत्मा में स्थित होने पर, यदि किसी कारण से मन चलायमान होने से द्वैत का प्रतिभास हो, तो आत्मज्ञान द्वारा इसके बाधित हो जाने से, असत् का स्वयं प्रतिभास असंभव होने के कारण, आत्मा में कल्पित रूप से इस द्वैत की अनुज्ञा (स्वीकृति) करता है। जड़ के स्वतः प्रकाश न होने के कारण, सत्तावान् (आत्मवान्) भी यह स्वतः नहीं है। वास्तव में व्याप्य. अनुज्ञेय के अभाव से यह ओता तथा अनुज्ञाता भी नहीं है क्योंकि अन्य सब का अभाव होने के कारण यह असंग तथा अविकारी है।

(ख) यह ओंकार ही अनुज्ञाता है जब कोई द्रव्य, धन आदि किसी से मांगता है तो वह (अनुज्ञा) 'ओम्' द्वारा ही इसकी स्वीकृति देता है……(शेष पूर्ववत्)

३. अनुज्ञैकरस योग

काल्पनिक प्रतिभास के तुर्य तुर्य पर्यन्त अनुज्ञाता योग के द्वारा आत्मा में विलय के अनन्तर साक्षी चैतन्य रूप स्थिति अनुज्ञा योग कहलाता है।

अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा, प्रज्ञानघन एव । अयं यस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातो । अतश्चिद्घन एव । न ह्ययमोता नानुज्ञाता, एतदात्म्यं हीदं सर्वं सदैव ।

अनुज्ञैकरसोह्ययमोंकार ओमिति ह्येवानुजानाति वाग्वा ओंकारो । वागेव ह्यनु जानाति। चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिदेव

ह्यनुज्ञाता तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद् भवति । एतदमृतमभय-मेतद् ब्रह्म अभयं वै ब्रह्म । अभयं ह वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥३॥

(क) यह आत्मा अनुज्ञैकरस है, क्योंकि यह प्रज्ञान घन है, अर्थात काल्पनिक द्वैत प्रतिभास के अनुज्ञात योग द्वारा आत्मा में विलय कर एक रस साक्षिरूप से अवस्थान करता है, अतः अनुज्ञैक रस है (अनुज्ञाता+एक रस) यह सब से पूर्व प्रकाशमान होने के कारण चिद्धन है। परमार्थ में यह न श्रोता है न अनुज्ञाता है, न अनुज्ञैकरस—यह संपूर्ण साद्य-स्वयमात्मा शून्य होने के कारण सापेक्ष आत्मवान् है, अथवा यह सब आत्मीय अर्थात् आत्मा में अध्यस्त है। इस लिए आत्मा के अतिरिक्त यह असत् है।

(ख) यह ओंकार अनुज्ञैकरस है, क्योंकि शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के अनुसार सब की चिन्मात्रता को जान कर इस की अनुज्ञा करता है। यह वाग् (परा) क्योंकि अनुज्ञा अनुज्ञाता के अनन्तर कहा गया है. श्रोता अनुज्ञाता भी पूर्व तीसरी अवस्था की अपेक्षा से अन्तर है, परन्तु अनुज्ञा तो अनुज्ञाता के भी अन्तर है. अन्ततः तो श्रोता आदि सर्व तुरीय तुरीय ही है, परन्तु साधन (उपक्रम) की दृष्टि से बाह्य अन्तरत्व है···शेष पूर्ववत् ।

४. अविकल्प योग

साक्षिरूप अनुज्ञैकरस भी विकल्प रूप है, इस लिए साक्षि-भाव का भी विलय कर स्वमहिमा में स्थित चैतन्य रूप से अवस्थान अविकल्पयोग है।

अविकल्पो ह्ययमात्मा । अद्वितीयत्वाद् । अविकल्पो ह्ययमोंकारः अद्वितीयत्वादेव । चिन्मयोह्ययमोंकारः । तस्माद् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवति । अविकल्पोऽपि । नात्र काचन भिदाऽस्ति । नैव तत्र काचन भिदास्ति । अत्र हि भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति । तदेतदद्वयं स्वप्रकाशं महानन्दमात्मैव । एतदमृतंमभयमेतद् ब्रह्म । अभयं वै ब्रह्म अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥४॥

यह आत्मा अविकल्प है, क्योंकि अद्वितीय है ।

ओंकार भी अविकल्प है, क्यों कि अद्वितीय ही है, क्योंकि ओंकार चिन्मात्र ही है, इस लिए परमेश्वर रूप एक ही है। अविकल्प रूप है, परन्तु अविकल्प धर्म से भी रहित है आत्मा में किसी प्रकार का भेद नहीं है। भेद के प्रति भास मात्र का ही अभाव नहीं, परन्तु भेद का स्वरूप से ही अभाव है। (भेद की असत्ता की दृढ़ता के लिए भेददर्शन में दोष दिखलाते हैं।) आत्मा में भेद मानने वाला अज्ञानी शतधा, सहस्रधा रूप से छिन्न-भिन्न होता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है, देव आदि भेद भाव से कहीं भी स्थिरता को नहीं पाता। यह अद्वय, स्वप्रकाश, महानन्द आत्मा ही है। यह अमृत तथा अभय रूप ब्रह्म ही है। क्योंकि निश्चित अभय स्वरूप ही ब्रह्म है। जो इस परमार्थ तत्त्व को जानता है, वह ब्रह्मभाव को ही प्राप्त हो जाता है। यह उत्तम अधिकारी से भिन्न गोपनीय रहस्य है।
